Chap-1

प्रथम अध्याय

विषयप्रवेश

:: प्रथम अध्याय ::

: विषय-प्रवेश :

प्रास्ताविक :

उपन्यास नये युग के नये मनुष्य की नयी विधा है । यूरोप में जो औद्योगिक क्रान्ति हुई उसके कारण प्राचीन सामंतवादी मूल्य (Feudal ~~Feudal~~) चरमरा गये और पूंजीवादी व्यवस्था ने जन्म लिया । क्षात्र-धर्म के स्थान पर सर्वत्र वणिग्धर्म की बोलबाला शुरू हो गई । सत्ता व्यापार में केन्द्रभूत होने लगी । इसके कारण पुरानी समाज-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन आये । समाज का ढाँचा ही बदल गया । जीवन-मूल्यों में बदलाव आ गया । इस औद्योगिक क्रान्ति के साथ-साथ वैज्ञानिक-क्रान्ति भी हुई , जिसके कारण विश्व छोटा होता गया और सामाजिक

परिवर्तन क्षिप्रगामी होते गये । इन क्षिप्रगामी नित्य परिवर्तित संकुल एवं जटिल समाज के मनुष्य , उसकी आशा-आकांक्षाओं , उसकी अनुभूतियों को अभिव्यक्त कर सके ऐसे एक सशक्त साहित्यिक रूपरूप की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी और इसी आवश्यकता के कारण "नोवेल " [Novel] जैसी साहित्यिक विधा अस्तित्व में आयी । "नोवेल" शब्द का कोशगत अर्थ ही "नवीन" होता है । अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि पश्चिम में भी यह साहित्यिक प्रकार अधिक पुराना नहीं है ।

यूरोप में उपन्यास का उद्भव :

यह सर्वथा ज्ञात तथ्य है कि उपन्यास का प्रारंभ विश्व-साहित्य में यूरोपीय पुनर्जागरण के बाद हुआ । इस साहित्य-रूप के विकास के लिए औद्योगिक क्रान्ति और उससे उत्पन्न सामाजिक जटिलता ने अनुकूल पृष्ठ-भूमि का निर्माण किया । जैसे हमारे यहाँ बहुत-से विद्वान इस आधुनिक कथा-रूप को "कादम्बरी" तथा " दशकुमारचरित" [बाणभट्ट तथा दण्डी] आदि से संयुक्त करने का यत्न करते हैं , वैसे यूरोप में भी कई विद्वान "नोवेल" को लोगितुस ,हेलिओदोरस तथा पेत्रोनिअस के गद्य-प्रेमाख्यानों से सम्बद्ध करने का प्रयास करते हैं ; परन्तु इस आधुनिक रूप को उन पुराने साहित्य-रूपों से जोड़ने का प्रयत्न केवल द्राविड़-प्राणायाम सा लगता है । वस्तुतः उनमें कथा और गद्य इन दो तत्वों के अलावा किसी प्रकार का कोई साम्य नहीं है । आंग्ल-विवेचक राल्फ फाक्स ने सर्वप्रथम इटली के लेखक बोकाशियो की रचना "डेकामेरोन " में उपन्यास का कुछ आभास लक्षित किया था : "Bocaccio first showed the most important feature of the

novelist, curiosity about men and women."[1]

बोकाशियो की इस रचना के बाद फ्रांसीसी लेखक राबले की व्यंग्य-विनोद पूर्ण रचना "गार्गान्तुआ एण्ड पान्ताग्रुएल" उपलब्ध होती है। तत्पश्चात् स्पेनिश लेखक सर्वान्तीस की विश्व-विख्यात कृति "डान किहोटे" का आगमन होता है। यह कृति अपनी गद्य-शैली के लिए विश्व-विख्यात है। यह सब कार्य सत्रहवीं शताब्दी तक हो गये थे, परन्तु उपन्यास का वास्तविक विकास तो यूरोप में भी अठारहवीं शताब्दी में हुआ। सर्वान्तीस जैसे समर्थ गद्यकार तथा एडीसन और स्टील जैसे निबंधकारों के कारण गद्य का इतना विकास हो चुका था कि वह वर्णन, विवेचन और चित्रण में अब सक्षम हो चुका था। विकसित और परिमार्जित गद्य ने उपन्यास के उद्भव में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। यूरोप में आधुनिक उपन्यास के जनकों में हम डेनियल डिफो, रिचार्डसन, फील्डिंग, स्मालेट और स्टर्न आदि के नाम ले सकते हैं।[2]

आधुनिक पाश्चात्य उपन्यास का प्रथम निर्भ्रान्त रूप हमें डेनियल डिफो कृत "राबिन्सन क्रूसो" में ही दिखता है। एक दृष्टि से देखा जाय तो डिफो को न केवल अंग्रेजी उपन्यास का, अपितु विश्व-उपन्यास साहित्य का भी जन्मदाता कहा जा सकता है। ऐसा इसलिए कह सकते हैं कि उसकी रचना में पहली बार व्यक्ति-नायक अपनी पूरी विशिष्टता के साथ अंकित हुआ है। डिफो का नायक "राबिन्सन क्रूसो" एक प्रकार से ऐतिहासिक हो गया है क्योंकि वह अपने व्यक्तित्व द्वारा नवोद्भूत पूंजीवादी वर्ग की साहसिकता, उद्यम और आशावादिता का प्रबल प्रतिनिधि है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति की यह प्रतिष्ठा उसके

नये सामाजिक संबंधों का सच्चा प्रतिबिंब है । मध्यकाल में व्यक्ति परिवार, जाति, धर्म, परंपरा प्रभृति के बंधनों से बंधा रहता था । पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली के अभ्युत्थान ने उसे समाज से ही नहीं, प्रत्युत अन्य व्यक्तियों से भी आर्थिक अनुबंध द्वारा पृथक करके उसे एक ओर अकेला कर दिया । समुद्री तूफानों के थपेड़ों से निर्जन द्वीप में परित्यक्त कूसो उसी आर्थिक मानव का प्रतीक है और वह अपनी व्यवहार-बुद्धि और प्रत्युत्पन्न मति से अपने विषम परिवेश और विषम परिस्थिति के विरुद्ध संघर्ष करता है ।[3]

डैनियल डिफो के पश्चात् उस समय के दूसरे प्रमुख उपन्यासकार हैं — रिचर्डसन । रिचर्डसन द्वारा प्रणीत "पामेला" उपन्यास वस्तु और शिल्प की दृष्टि से अनूठा है । वह आत्मकथात्मक रूप में लिखा गया है । डिफो और रिचर्डसन के उपन्यासों में हमें तत्कालीन यूरोपीय जीवन का यथार्थ निरूपण मिलता है । आंग्ल विवेचक इयान वाट ने इन दो उपन्यासकारों के विषय में लिखा है : "Defoe and Richardson are the first great writers in our literature who didnot take their plots from mythology, history, legend or previous literature ..... After Defoe, Richardson and Fielding in their very different ways continued what was to become the novel's usual practice, the use of non-traditional plots, either wholly invented or based in -Post on contemporary incident." (4)

अभिप्राय यह है कि डिफो, रिचर्डसन, फील्डिंग आदि वे लेखक हैं, जिन्होंने साहित्य-जगत में पहली बार इतिहास, पुराण, दंतकथा या प्राचीन परंपरा से कोई विषय न लेते हुए सीधे समसामयिक समाज से विषयों को लिया है और उन्होंने परंपरागत कथानक-पद्धति को न अपनाते हुए नयी कथानक-रूढ़ियों को अन्वेषित भी किया है ।

रिचर्डसन कृत "पामेला" और हेनरी फील्डिंग कृत "टाम जोन्स" इन दोनों उपन्यासों में हमें वास्तविक जगत के ठोस चरित्र मिलते हैं। ये चरित्र अपनी-अपनी वैयक्तिक विशेषताओं के साथ परिवेशगत समस्याओं से जूझते हैं। इस प्रकार उनका व्यक्तित्व ही नहीं, उनका परिवेश भी विशिष्ट और यथार्थ हो जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वैयक्तिक एवं सामाजिक उभय प्रकार के यथार्थ यहां उभरकर आये हैं। इन उपन्यासों में हम अपने जगत के विश्वसनीय लोगों को चलते-फिरते और क्रियाशील रूप में पाते हैं। रिचर्डसन का "पामेला" आत्मकथात्मक रूप में लिखा गया है तो फील्डिंग में पत्र-शैली मिलती है। डिफो, फील्डिंग और स्मालेट में प्रधानतः बाह्य सामाजिक यथार्थ का चित्रण मिलता है; जबकि रिचर्डसन और स्टर्न व्यक्ति की आंतरिक मनःस्थितियों और भावनाओं का निरूपण करते हैं।[5] इस प्रकार अठारहवीं शताब्दी में ही पश्चिम में सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की धारा प्रवाहित हो चुकी थी।

यूरोप में उपन्यास का क्रमिक विकास :

अठारहवीं शताब्दी के उपरांत अंग्रेजी उपन्यास में एक नया मोड़ आता है। जेन आस्टिन और सर वाल्टर स्काट इस नये मोड़ के लेखक हैं। यद्यपि ये नितान्त भिन्न और प्रतिकूल दिशाओं के प्रवर्तक रहे हैं; पर एक बात में दोनों में अद्भुत समानता दृष्टिगोचर होती है कि जहां डिफो, फील्डिंग, स्मालेट आदि मध्यवर्गीय समाज के कटु यथार्थ को लेकर चले हैं, इन दोनों उपन्यासकारों ने उसे अनदेखा कर दिया है। जेन आस्टिन का अपना एक संसार है। वह अंतर्मुखी प्रकार की रचनाकार हैं। अपने यहां के जैनेन्द्र से हम उनकी तुलना

कर सकते हैं । वे अपने आपको संपन्न , सम्भ्रान्त और अभिजात परिवार के वृत्त में बन्द कर लेती हैं । यही उनका दायित्व बन जाता है । उससे बाहर वह भूलकर भी कदम नहीं रखतीं । फलतः जीवन के विस्तार का , अथवा उसके संघर्ष का कोई व्यापक चित्र यहाँ उपलब्ध नहीं होता है । परन्तु वे जीवन के अत्यन्त सूक्ष्म , कोमल और सीमित पारिवारिक चित्र देती हैं । यद्यपि वे चित्र अपनी निर्ममता और विश्वसनीयता में अत्यन्त मर्मस्पर्शी हैं और जेन आस्टिन सदा-सर्वदा के लिए उपन्यासकारों की प्रथम श्रेणी में पहुंचा देते हैं । [6]

ठीक इसके विपरीत वाल्टर स्काट अपने काल को तो अनदेखा कर देते हैं , परन्तु अपने जन्म-प्रदेश स्कोटलेण्ड के इतिहास को लेकर उसके ऐतिहासिक तथ्यों और वृत्तान्तों के अम्बार लगा देते हैं । वर्णन की विशदता , चित्रात्मकता एवं कथा-संयोजन की निपुणता , ये तीन गुण स्काट को अपने देश का ही नहीं , प्रत्युत अपने युग का भी उच्चतम उपन्यासकार बना देते हैं । स्काट का नाम यूरोप के साहित्य-जगत में इस कदर फैलता है कि यूरोप के प्रायः सभी देशों में स्काट-स्कूल के लेखक जन्म लेते हैं । यूरोप ही नहीं अन्य देशों के उपन्यासकारों ने भी उनका लोहा माना है , उनके ऋण को स्वीकार किया है । ऐसे उपन्यासकारों में गुजराती के कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी तथा हिन्दी के वृन्दावनलाल वर्मा के नाम स्मृतिपटल पर उभरते हैं ।

इन दो उपन्यासकारों ~~के संबंध में~~ (आस्टिन और स्काट) के संबंध में डा. भारतभूषण अग्रवाल लिखते हैं —

" यदि इन दो उपन्यासकारों को निकट से देखा जाय तो उनका भेद वैसी पहेली नहीं रह जाता , जैसी वह देश दूर से

देखने पर प्रतीत होती है । सम्भ्रान्त समाज की सम्भ्रान्त और भावुक तरुणी होने के कारण जेन आस्टिन स्वभावतः ही उस समाज का चित्र उपस्थित करनेकी ओर प्रवृत्त होती हैं, जिसे वह भीतर तक जानती हैं । उससे बाहर पैर न रखना उनके प्रत्यक्ष अनुभव की ही सीमा है । उधर स्कोट अपने प्रदेश की ममता में डूबे हुए हैं, शौर्य और सामन्ती वैभव के जो चित्र वे अंकित करते हैं, वे उन्हें अपने पूर्वजों से घुट्टी में मिले हैं । सिर पर वे भावुक कवि हैं, यही नहीं, प्रारंभ में वे कवि-रूप में ~~प्रतिष्ठित~~ प्रतिष्ठित भी हो चुके हैं । अतः एक प्रकार से इन दोनों उपन्यासकारों की कृतियां अपने-अपने व्यक्तित्व की ही सच्ची अभिव्यक्तियां हैं, पर जेन आस्टिन का सीमित जगत और स्काट का अतीत-जगत वर्तमान के कर्म और संघर्ष-संकुल जगत की वैसी प्रतिच्छवि निश्चय ही नहीं है, जैसी ~~फील्डिंग~~ फील्डिंग तक में उपलब्ध हुई थी । 7

उपर्युक्त दो उपन्यासकारों का जो वैश्विक परिवेश था, वह अलग प्रकार का था । ज्ञान-विज्ञान से संपृक्त प्रकृति और परिवेश से जूझते हुए आशास्पद मनुष्य की छवि बाद में प्रकट नहीं हुई । व्यापार के विस्तार ने उपनिवेशों को जन्म दिया । औद्योगिक क्रान्ति से वर्ग-संघर्ष तीव्र हुआ, तब पूंजीवादी अन्तर्विरोधों ने सिर उठाना शुरू किया । ऐसी स्थिति में जीवन का यथार्थ और भी जटिल हो गया । इस संदर्भ में राल्फ फाक्स का कहना है कि जेन आस्टिन इस यथार्थ से बचने के लिए ही अपने सीमित विषय में आबद्ध रहती है । यथा — " she is critical, ironical analyses her people truely, shows that they and their problems are incapable of solution within their society, and then, tamely, surrenders

This is their world of sheltered gentility, there is another outside, but its existence must never, never be recognized." (8)

इस कठिन यथार्थ के कारण जहाँ आस्टिन अपने सीमित विश्व में रह गयीं, वहाँ स्काट ने उसका उपाय ढूंढा आकर्षित और रमणीकृत भव्य भूतकाल में। अपने यहाँ इस प्रकार की प्रवृत्ति छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद में दृष्टिगोचर होती है। रान्फ फाक्स ने स्काट के संदर्भ में टिप्पणी करते हुए कहा है : "Scott the first great novelist of this new industrail age, ran-away from it altogether into the idealized and remanticised past." (9)

स्काट के उपरांत उन्नीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य उपन्यासकारों में थैकरे, डिकिन्स, मेरेडिथ, टामस हार्डी, विक्टर ह्यूगो, फ्लाबेयर, गोगोल, बाल्जाक, तुर्गनेव, टाल्सटाय, दोस्तोएवस्की जैसे विश्वविख्यात उपन्यासकारों की नामावली उपलब्ध होती है। यहाँ पर आकर यथार्थ दृष्टि का क्रमशः विकास होता है। वह बाहरी न रहकर आंतरिक होती चली जाती है। वैयक्तिकता का आग्रह उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। पीड़ितों-दलितों के प्रति संवेदना के स्वर सुनाई पड़ते हैं। शासकों और समाज के सत्तारूढ़ ठेकेदारों के प्रति व्यंग्य-प्रहार में अभिवृद्धि होती है। इस समय का एक और अभिलक्षण यह है कि प्रस्तुत समय में नारी की दयनीय स्थिति को लेकर आवाज़ उठती है और नारी की समानता की पुकार को विशेष मूल्य दिया जाता है। डिकिन्स और थैकरे के उपन्यासों में साधारण पात्रों के प्रति सहानुभूति की प्रधानता दृष्टिगोचर होती

है और जो मैरेडिथ में बौद्धिक जिज्ञासा और मनस्थितियों का विश्लेषण सुंदर ढंग से हुआ है । टामस हार्डी के उपन्यासों में मिट्टी की सुगंध तो मिलती है ही है, परन्तु साथ-ही-साथ नियति के सामने व्यक्ति की विवशता को भी वे पग-पग पर रेखांकित करते चले हैं ।

बाल्जाक और स्तान्दाल में व्यंग्य-प्रहार की तीव्रता अधिक है, जबकि विक्टर ह्यूगो और ह्यूमा अपने ओज समस्यायिकों के अधिक निकट हैं । [10] फ्लोबेयर इन सभी उपन्यासकारों से थोड़े भिन्न पड़ते हैं । अपने विश्वविख्यात उपन्यास " मादाम बोवरी " में उन्होंने नारी-जीवन की करुणता को गहराई से व्यंजित किया है । रूसी लेखक गोगो बाल्जाक के निकट पड़ते हैं, तो तुर्गनेव अपनी कल्पनाशीलता और ~~कविता~~ कवित्व से अपनी अद्वितीयता को सिद्ध करते हैं । टाल्सटाय "वार एण्ड पीस " के द्वारा विश्वसाहित्य को एक अन्यतम कृति प्रदान करते हैं । दूसरी तरफ दोस्तायवस्की "क्राइम एण्ड पनिश-मेण्ट " जैसी कृति के द्वारा समाज की विसंगतियों एवं विषमताओं को तीक्ष्णता के साथ विश्लेषित करते हैं ।[11]

बीसवीं शताब्दी का पाश्चात्य उपन्यास :

पाश्चात्य परिप्रेक्ष्य में बीसवीं शताब्दी का उपन्यास अधिकांश विद्वानों के मतानुसार मोर्डन का उपन्यास रहा है । भारतीय परिवेश में मोर्डन की यह छवि साठोत्तरी उपन्यासों में प्रतिफलित होती हुई दृष्टिगोचर होती है, परन्तु यहाँ पर हमारी चर्चा पाश्चात्य उपन्यासों को लेकर है । वैश्विक परिवेश को देखा जाय तो बीसवीं शताब्दी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्वों और उहापोहों की शताब्दी रही है । एक विशेष महत्वपूर्ण बात यहाँ और भी परिलक्षित

होती है कि न केवल विज्ञान , अपितु मनोविज्ञान ने भी आश्चर्यजनक प्रगति की । इन मनोवैज्ञानिक सत्यों के प्रकाश में मनुष्य ने देखा कि मानव यदि चाहे तो अनंत एवं अकूत शक्तियों का स्वामी बन सकता है । वह विश्वाराधिप बन सकता है , परन्तु वह ऐसा कर नहीं पाता क्योंकि एक तर्कातीत विग्रह का उसे सामना करना पड़ता है , जो उसके इर्द-गिर्द , चारों तरफ , उसे लीलने के लिए मुंह फाड़े खड़ा है । फलतः वह निराश , कुंठित और अनाश्वस्त हो जाता है । वह अनुभव करता है कि उसका समूचा अस्तित्व व्यर्थ और निरर्थक प्रमाणित हो रहा है । फलतः इस शताब्दी में जहां एक तरफ एच.जी. वेल्स के वैज्ञानिक उपन्यास (Scientific fiction) उपलब्ध होते हैं , वहां दूसरी तरफ ऐसी भी औपन्यासिक कृतियां उपलब्ध होती हैं , जिनमें फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों का एकान्तिक विश्लेषण तथा मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्गसंघर्ष की अनिवार्यता को रेखांकित किया जा सकता है ।

विश्व-युद्धों ने पाश्चात्य समाज और परिवार को बुरी तरह से झंझोड़ा है । अतः मोहभंग के साथ-साथ विघटन की प्रक्रिया का भी प्रारंभ हो जाता है । यह विघटन समाज और परिवार का ही नहीं , अपितु जीवन-मूल्यों का भी है । फलतः इस शताब्दी में गाल्सवर्दी जैसे उपन्यासकार पारिवारिक विघटन का चित्रण करते हैं , तो दूसरी ओर डी.एच. लारेन्स जैसे उपन्यासकार समस्त सभ्यता के मूल्यों से उन्मुक्त होकर आदिम रक्त-संबंधों की बात करते हैं । इस समय के प्रमुख उपन्यासकारों में उपर्युक्त उपन्यासकारों के अतिरिक्त वर्जीनिया वुल्फ , मार्सेल प्रूस्त , जेम्स जायस , आल्डुस हक्सले आदि आते हैं । वर्जीनिया वुल्फ और मार्सेल प्रूस्त में अतीत-संचरण एवं अन्तःप्रवाह उपलब्ध होता है । जेम्स जायस चेतना प्रवाह शैली

धारा देशकाल की विभावना का ही भेद उड़ा देते हैं । आश्चर्य इसने भी कालहीनता की ओर गमन किया है, किन्तु व्यक्ति के विघटन का भी चित्रण मिलता है । यहाँ कुछ ऐसे उपन्यास भी उपलब्ध होते हैं, जिनको हम समाजवादी उपन्यास भी कह सकते हैं । इन उपन्यासों में समाज के विराट स्वरूप में व्यक्ति के विलय को रेखांकित किया गया है । यहाँ एक और तथ्य को भी रेखांकित किया जा सकता है कि इस शताब्दी का उपन्यास खंडित यथार्थ-चित्रित हुआ है । वह खंडित है, क्योंकि इस शताब्दी का मानव-जीवन एवं मानव-व्यक्तित्व भी खंडित है । फलतः इस खंडित यथार्थ की अभिव्यक्ति के कारण अनेकविधता और अन्तर्विरोध आ गये हैं । इस युग का लेखक अपने भोगे हुए अनुभव और निजी सत्यों को उद्घाटित कर रहा है, क्योंकि इसके अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं है, क्योंकि जीवन के समग्र मूल्य बिखर चुके हैं ।

हिन्दी उपन्यास का विकास :

यह पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि उपन्यास एक नयी साहित्यिक विधा है । और हिन्दी में सौ-सवा-सौ वर्षों से अधिक पुराना उसका इतिहास नहीं है । यद्यपि उपन्यास का संबंध कथा-साहित्य से है, और हमारे यहाँ संस्कृत में "पंचतंत्र", "हितोपदेश", "कथा-सरित्सागर", "दशकुमारचरित" आदि कथा-साहित्य की कृतियाँ उपलब्ध होती हैं । इनके अतिरिक्त पालि तथा प्राकृत में बौद्ध एवं जैन जातक कथाओं की परंपरा उपलब्ध होती है, तथापि उपन्यास को हम उस प्राचीन कथा-साहित्य से संदर्भित न करते हुए, उसे एक नयी विधा के रूप में स्वीकार करते हैं । इस संदर्भ में डा० उषा पाण्डे के निम्न-लिखित विचार ध्यातव्य रहेंगे --

" तर्कशील आलोचक भले ही इन्हें उपन्यास की श्रृंखला से सम्बद्ध करने का आग्रह करें , किन्तु इनका प्रेमपूर्ण दृष्टिकोण , अमानुषिक लौकिक और दैविक प्रसंगों का समावेश और सबसे अधिक पलायनवृत्ति उपन्यास से भिन्नता स्पष्ट कर देती है । आचार्य द्विवेदीजी ने इन्हें उपन्यासजातीय मानते हुए भी आधुनिक वैयक्तिकतावादी दृष्टिकोण को स्थापित करने वाले उपन्यास से भिन्न माना है । हिन्दी का उपन्यास शब्द , संस्कृत से उद्भूत होते हुए भी , इस व्युत्पत्तिमूलक अर्थ अथवा संस्कृत नाट्य-शास्त्र में प्रयुक्त प्रतिमुख-संधि के उपभेद "उपन्यास" का बोधक न होकर , अंग्रेजी "नोवेल" शब्द का पर्याय अथवा समानधर्मी है । " 12

अतः कहा जा सकता है कि उपन्यास अपनी प्रकृति एवं संस्कारों में कथा-साहित्य की प्राचीन विधाओं से भिन्न पड़ता है । यूरोप में वह औद्योगिक-क्रान्ति से उद्भूत नवीन सामाजिक परिस्थितियों के रूप में आया और यह भी एक विचित्र संयोग ही है कि भारत में भी जब औद्योगिक-क्रान्ति का प्रारंभ हुआ तो भारतीय समाज की जटिलता को स्थापित करने हेतु यह साहित्य प्रकार अस्तित्व में आया । न केवल हिन्दी में , अपितु भारत की प्रायः सभी वर्णाक्षर भाषाओं में उपन्यास का उद्भव प्रायः उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से मिलने लगता है ।

भारतीय भाषाओं में उपन्यास :

आधुनिक काल में मुद्रण-कला के विकसित होने पर गद्य का विकास शीघ्रगामी हुआ । फलतः अनेक पत्र-पत्रिकाओं का उद्भव हुआ । बंगला में "समाचार-दर्पण" , "बंगदर्शन" , "कल्लोल" , "आनंदबाजार पत्रिका" , " देश" प्रभृति सामयिक ; असमिया में "जोनाकी" , "बिजुली" , "अरुणोदय" आदि पत्रिकाएं ; तेलुगु में "सरस्वती-ग्रंथमाला" , "आंध्र प्रकाशिनी ग्रंथमाला" इत्यादि पत्रिकाएं अस्तित्व में आयीं ,

जिनमें वह उपन्यास प्रथमतः धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुए । बाद में ग्रंथस्थ किया गया । यहाँ हम विभिन्न भारतीय भाषाओं के प्रथम उपन्यासों का उल्लेख कर रहे हैं ।

बंगला में सन् 1857 में टेकचंद ठाकुर कृत "आलालेर घरेर दुलाल" नामक उपन्यास की उपलब्धि होती है । उसी वर्ष मराठी में बाबा पद्मनजी कृत " यमुनापर्यटण" उपन्यास प्राप्त होता है । उसी प्रकार "पुलेली कुंदु " , [आर्य जीवन के कौशी] , " जानिकीकांतार [illegible] चरित्र " [स. के. गर्नी] , "प्रतापमुदलियरचरित्रम् " [वेदनायकम् पिल्लै] , "करपकेलो" [गंगाशंकर तुलजाशंकर मेहता] प्रभृति उपन्यास क्रमशः मलयालम, उलमिया , तमिल , गुजराती आदि भाषाओं में उपलब्ध होते भी हैं । [13]

हिन्दी का प्रथम उपन्यास :

ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है कि भारतीय भाषाओं में संभवतः उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से उपन्यास जैसे साहित्य की उपलब्धि हो रही है । अतः हिन्दी में भी प्रायः उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही उपन्यास प्राप्त होता है । परन्तु हिन्दी के प्रथम उपन्यास के संदर्भ में विद्वानों में मतैक्य नहीं है । इस संदर्भ में डा. माता-प्रसाद गुप्त , आचार्य रामचन्द्र शुक्ल , डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय , डा. गोपालराय , डा. कृष्णलाल , डा. गणपतिचन्द्र गुप्त तथा डा. पाल-कान्त देसाई प्रभृति विद्वानों ने अपने-अपने [illegible] अभिमत प्रस्तुत किये हैं । डा. माताप्रसाद गुप्त ने प्रतिपादित किया कि सन् 1871 में प्रकाशित "मनोहर उपन्यास " नामक पुस्तक में सर्वप्रथम उपन्यास शब्द को उसके आधुनिक अर्थों में प्रयुक्त किया गया है । परन्तु डा. माताप्रसाद गुप्त का यह कथन "उपन्यास" शब्द के एक विधा विशेष के रूप में प्रयोग के संदर्भ में है , प्रथम उपन्यास के संदर्भ में नहीं । उपन्यास

साहित्य के अध्येता विद्वानों , शोधकर्ताओं तथा इतिहासकारों ने ऐतिहासिक कालक्रम को तथा नवीन शिल्पगत सजगता को प्राथमिकता देते हुए इंशाअल्लाखाँ कृत "रानी केतकी की कहानी" से लेकर राधाकृष्णदास कृत "निस्सहाय हिन्दू " तक की कथात्मक रचनाओं को प्रथम उपन्यास के संदर्भ में प्रस्तुत किया है । डा. शिवनारायण श्रीवास्तव ने "रानी केतकी की कहानी " को हिन्दी के प्रथम उपन्यास के रूप में प्रस्तावित किया है । [14]

परन्तु स्पष्टतः गद्य माध्यम तथा पर्याप्त लंबाई की कथात्मक कृति होने पर भी डा. गोपालराय इसे उपन्यास नहीं मानते हैं , क्योंकि उसकी भाषा कृत्रिम है तथा उसमें काल्पनिक संसार और अति-मानवीय पात्रों की संयोजना हुई है ।[15] इस संदर्भ में "प्रेमसागर" , "नासिकेतोपाख्यान " , " देवरानी-जिठानी की कहानी " (गौरीदत्त तिवारी-सन् 1870) , "बामा-शिक्षक " (मुंशी ईश्वरीप्रसाद) " पूर्णप्रकाश तथा चन्द्रप्रभा " (भारतेन्दु) , " निस्सहाय हिन्दू " (राधाकृष्ण दास) , "भाग्यवती" (पं. श्रद्धाराम फुल्लौरी) , तथा "परीक्षा-गुरु" (लाला श्रीनिवासदास) आदि औपन्यासिक कृतियों के नाम लिये जाते रहे हैं , जिन पर डा. गोपालराय , डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डा. श्रीकृष्णलाल प्रभृति विद्वानों ने अपने अभिमत प्रकट किये हैं । उपर्युक्त विद्वानों के तारतम्यों के समग्रावलोकन के पश्चात् केवल तीन कृतियाँ शेष रह जाती हैं जिन पर प्रथम उपन्यास होने की मोहर लगायी है । ये तीन उपन्यास हैं — "परीक्षागुरु " , "निस्सहाय हिन्दू " और "भाग्यवती" ।

उपर्युक्त उपन्यासों में "परीक्षागुरु" लाला श्रीनिवास द्वारा प्रणीत उपन्यास है । इसका प्रथम संस्करण सन् 1882 और द्वितीय संस्करण सन् 1887 का है । लेखक ने स्वयं इसे नवीन और अंग्रेजी ढंग का "नावेल"

कहा है । रचनाकार ने किस्से-कहानियों की पुरानी परंपरागत पद्धति "एक था राजा " को त्यागकर , कथा का आरंभ मध्य से किया है और पात्रों का परिचय बाद में करवाया है । उपन्यास की कथा दिल्ली के एक श्रीमं. श्रीमंत रईस मदनमोहन के जीवन के उतार-चढ़ाव को प्रस्तुत करती है । इसमें अति-मानवीय व्यापार , चमत्कारपूर्ण घटनाएं तथा चौंकाने वाले प्रसंग नहीं हैं , प्रत्युत जीवन के यथार्थ पर आधृत एक धनवान व्यक्ति की के जीवन के समयानुक्रम का चित्रण है । मदनमोहन पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध तथा चाटुकार मित्रों की सोबत में पड़कर पथभ्रष्ट हो गया है । परन्तु बाद में मदनमोहन का मोहभंग होता है । जब उसकी आर्थिक अवस्था गिर जाती है , तब चाटुकार मित्र उसे छोड़ जाते हैं , परन्तु उसकी पति-परायण पत्नी सुशीला तथा सच्चे मित्र ब्रजकिशोर की सहा-यता से वह पुनः जीवन की परीक्षा में सफल होता है । यहां जीवन की इस परीक्षा को ही गुरु कहा गया है । इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास पश्चिमी ढंग के "नोवेल" के समकक्ष ठहरता है ।

"निस्सहाय हिन्दू " राधाकृष्णदास का उपन्यास है । राधा-कृष्णदास बंगला उपन्यासों के अनुवाद करते थे । अतः बंगला के माध्यम से उपन्यास-कला का भी कुछ ज्ञान उन्हें हो जाता है । उसकी फलश्रुति है "निस्सहाय हिन्दू " । उसका रचनाकाल सन् 1889 का है । इसमें लेखक ने "गोवध" की समस्या को केन्द्र में रखा है । उसमें एक मुसलमान पात्र द्वारा गोवध के खिलाफ़ बलिदान देने की बात आती है । इस मुख्य समस्या के उपरांत उसमें तत्कालीन जीवन के अन्य पक्ष , जैसे बनियों का हीन-जीवन , काशी में गुण्डों की प्रबलता , घूसखोरी और दलालों की कुटिलता का भी दर्शन उपलब्ध होता है । डा. गोपालराय के अनुसार अपनी शिल्पगत नवीनता के कारण , प्रथम उपन्यास के लिए प्रस्तावित "परीक्षागुरु" आदि से यह श्रेष्ठ है । [16]

"भाग्यवती" आर्यसमाजी पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी द्वारा प्रणीत औपन्यासिक कृति है । इसका रचनाकाल सन् 1877 माना गया है । इसकी कथा रोचक और सीधी है । इस नायिका भाग्यवती काशी के पंडित उमादत्त की पुत्री है । वह समस्त गुणों से अलंकृत और शिक्षित है । विवाह के पश्चात् अपने गुणों और शिक्षा के कारण वह सर्वत्र आदर पाती है । परन्तु परिस्थितियों की विषमता के कारण भाग्यवती के पति मनोहरलाल के मन में कुछ भ्रान्तियां पैदा होती हैं । वह उसे घर से निकाल देता है । ऐसी स्थिति में भाग्यवती शिक्षा द्वारा अर्जित योग्यता के आधार पर आत्मनिर्भर होकर अपना निर्वाह स्वयं करती है । अंततः उसके पति का भ्रम टूट जाता है और वह उसे ससम्मान स्वीकार कर लेता है । वह एक पुत्री की माता होती है और उसके जीवन में सुख-समृद्धि की व्याप्ति हो जाती है । इस प्रकार हम देख सकते हैं कि इस उपन्यास की समस्या अन्य दोनों उपन्यासों से अधिक आधुनिक है, बल्कि यों कहना चाहिए कि उसमें निरूपित समस्या आधुनिक युग की एक ज्वलंत समस्या है — " नारी-शिक्षा की समस्या " । इस उपन्यास में सर्वप्रथम बताया गया है कि यदि नारी को शिक्षित किया जाय तो उसकी पराधीनता दूर हो सकती है और वह आत्म-निर्भर होकर स्वाभिमान के साथ जीवन-यापन कर सकती है । आज भी हिन्दू समाज में पुत्री का जन्म एक अभिशाप के रूप में लिया जाता है, तो आज से ~ तीन-चार-सौ वर्षों पूर्व तो स्थिति और भी भयंकर होगी । ऐसी स्थिति में लेखक ने यह साबित दिखाया है कि भाग्यवती की पुत्री होती है और उसके उपरांत भी उसका जीवन सुखपूर्ण ढंग से व्यतीत होता है । अतः कहा जा सकता है कि नारी चेतना का प्रथम स्फुलिंग हमें इस उपन्यास में प्राप्त होता है । डा. गणपतिचन्द्र गुप्त, डा. ~~[illegible]~~ सुरेश सिनहा, डा. पारुकान्त देसाई आदि विद्वानों ने इसे हिन्दी का प्रथम उपन्यास माना है । [17]

अतः समग्रालोचन के पश्चात् कहा जा सकता है कि "भाग्यवती" हिन्दी का प्रथम उपन्यास है । यह मानने के लिए हमारे पास दो कारण हैं — एक तो उसका रचनाकाल "परीक्षागुरु" और "निस्सहाय हिन्दू " दोनों के पूर्व का है । दूसरे उसमें वर्णित समस्या अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक एवं समयानुरूप है । अतः उपन्यास में निरूपित वस्तु , उसकी दृष्टि और उस दृष्टि की श्रेष्ठता के कारण यह उपन्यास हिन्दी का प्रथम उपन्यास कहलाने का अधिकारी हो सकता है ।

प्रेमचन्दपूर्वकाल का हिन्दी उपन्यास : ई. सन् 1877-1918 तक

ऊपर निर्दिष्ट किया गया है कि "भाग्यवती " हिन्दी का प्रथम उपन्यास है । अतः उसके रचनाकाल से लेकर प्रेमचन्दयुग के आविर्भाव तक के कालखंड को औपन्यासिक साहित्य के परिप्रेक्ष्य में प्रेमचन्दपूर्वकाल कहा जाता है । यद्यपि औपन्यासिक कला का विकास तो प्रेमचन्दजी के द्वारा ही हुआ , तथापि इस विधा का प्रारंभ प्रेमचन्द के पहले से ही हो गया था । इस काल का उपन्यास अपनी प्रारंभिक अवस्था में है । अतः वह किंचित् अपरिपक्व , अविकसित , स्थूल-कथावस्तु-प्रधान और अधिकांशतः रोमानी भावुकता से आप्लावित है । उसकी पृष्ठभूमि में उन्नीसवीं शताब्दी का नवजागरण है । अतः इसको स्वाभाविक ही समझा जायेगा कि इस कालखंड के कई लेखकों पर नवजागरणवादी —राजाराममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर , केशवचन्द्र सेन , दयानंद सरस्वती , पंडिता रमाबाई , महादेव गोविन्द रानडे ,गोपालकृष्ण गोखले प्रभृति — समाज-सुधारकों का प्रभाव मिले । अतः प्रस्तुत कालखंड में जो लेखक हमें प्राप्त होते हैं उनको दो श्रेणियों में हम वर्गीकृत कर सकते हैं — एक , नवसुधारवादी और दूसरे पुरातनवादी या सनातनपंथी । नवसुधारवादी लेखकों में पं. श्रद्धाराम फुल्लौरी , लाला श्रीनिवासदास , पं. बालकृष्ण

भट्ट , अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध , ठाकुर जगमोहनसिंह , मन्नन द्विवेदी इत्यादि की परिगणना की जा सकती है ; तो सनातनपंथियों में पं. किशोरीलाल गोस्वामी , राधाकृष्णदास, मेहता लज्जाराम शर्मा आदि को लिया जा सकता है । औपन्यासिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से विचार करें तो प्रस्तुत काण्ड में निम्न-लिखित पाँच औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं :—

§1§ सामाजिक उपन्यास

§2§ ऐतिहासिक उपन्यास

§3§ जासूसी उपन्यास

§4§ तिलस्मी उपन्यास

§5§ अनूदित उपन्यास

§1§ सामाजिक उपन्यास :

प्रस्तुत काण्ड के सामाजिक उपन्यासकारों में पं. प्रद्याराम मुन्शी , लाला श्रीनिवासदास , राधाकृष्णदास , अयोध्यासिंह उपाध्याय , पं. बालकृष्ण भट्ट , ठाकुर जगमोहनसिंह , मन्नन द्विवेदी प्रभृति को लिया जा सकता है । पं. प्रद्याराम मुन्शी कृत "भाग्यवती" उपन्यास नारी-शिक्षा की समस्या को रेखांकित करता है । लाला श्रीनिवासदास द्वारा प्रणीत "परीक्षागुरु" में मन्त्री मित्र की व्याख्या प्रस्तुत की गई है । राधाकृष्णदास द्वारा लिखित "निस्सहाय हिन्दू" में गो-वध की समस्या को लिया गया है । अयोध्यासिंह उपाध्याय कृत "अधखिला फूल" तथा " ठेठ हिन्दी का ठाठ " तत्कालीन सामाजिक समस्याओं को निरूपित करते हैं । पं. बालकृष्ण भट्ट द्वारा विरचित "तो अजान एक सुजान " भी एक सामाजिक उपन्यास है , जिसमें प्रतिपादित किया गया है कि सौमूर्ख मित्रों से एक विद्वान

मिल हजार गुना अच्छा रहता है । इस काल के अन्य सामाजिक उपन्यासों में "स्वतंत्र रमा परतंत्र लक्ष्मी " (मेहता लज्जाराम शर्मा) , "राम-लाल " (मन्नन द्विवेदी) "श्यामा-स्वप्न " (ठाकुर जगमोहनसिंह) आदि हैं ।

प्रेमचन्दपूर्वकाल के ये उपन्यास स्थूल -कथावस्तु-प्रधान हैं । इनमें चरित्र-चित्रण की प्रवृत्ति कम दृष्टिगोचर होती है । अधिकांश पात्र "सु" और "कु" में विभाजित मिलते हैं । लेखकों में उपदेशक-वृत्ति का प्राधान्य मिलता है । भाषा और शिल्प की दृष्टि से इस कालखंड के सामाजिक उपन्यासों को कमजोर ही कहा जा सकता है ।

(2) ऐतिहासिक उपन्यास :

इस कालखंड के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में पं. किशोरीलाल गोस्वामी (सन् 1865-1924) प्रमुख हैं । उनके उपन्यासों में कुतूहल की वृत्ति अधिक रहती है । उनका दृष्टिकोण पूर्णतया रोमानी है । अतः उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में विलासिता के परिदृश्य अधिक दृष्टिगोचर होते हैं । उन्होंने मुसलमानयुग , मुगलयुग तथा राजपूतयुग के ऐतिहासिक पात्रों को लेकर उपन्यासों की सृष्टि की है । "रजिया बेगमा" उनका एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास है । डॉ. भारतभूषण अग्रवाल ने किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों को "ऐतिहासिक रम्याख्यानों" की संज्ञा दी है । [18] क्योंकि उनके उपन्यासों में ऐतिहासिकता कम और कल्पनाप्रसूत प्रसंग अधिक होते हैं । ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास के साथ अधिक छूट-छाट नहीं ले सकते । वस्तुतः जिनको हम वास्तविक रूप से ऐतिहासिक उपन्यास कह सकते हैं , ऐसे उपन्यास तो हमें सर्वप्रथम प्रेमचन्दयुग में , वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों के रूप में मिलते हैं ।

(3) जासूसी उपन्यास :

उपन्यास के प्रारंभिक काल से ही हमें जासूसी प्रकार के उपन्यास मिलते हैं । वस्तुतः जासूसी उपन्यासों को गंभीर-स्तरीय उपन्यासों की श्रेणी में नहीं रखा जाता है, परन्तु चूँकि यह उपन्यास का उद्भवकाल है, उसकी थोड़ी-सी चर्चा यथेष्ट समझी जायेगी । यद्यपि जासूसी उपन्यास तो इस समय भी लिखे जा रहे हैं और प्रचुर मात्रा में लिखे जा रहे हैं, परन्तु परवर्ती कालों में उसका नोटिस कितोने नहीं लिया है । इस आद्य समय के जासूसी उपन्यासकारों में बाबू गोपालराम गहमरी (जन्म सन् 1866 के करीबन) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । जासूसी उपन्यासों को हम घटनाप्रधान उपन्यासों की कोटि में रख सकते हैं । गहमरीजी ने गणितन 200 जितने जासूसी उपन्यास लिखे हैं । इस क्षेत्र के प्रति वे पूर्णतः प्रतिश्रुत थे और उन्होंने "जासूस" नामक एक पत्रिका का प्रकाशन भी शुरू किया था । उसमें जासूसी कहानियाँ और जासूसी उपन्यास (धारावाहिक रूप में) प्रकाशित होते थे । गहमरीजी के इस जासूसी साहित्य के प्रेम को लक्षित करते हुए हिन्दी के आलोचकों ने उनको हमारे यहाँ का "कानन डायल" तक कह डाला है । इस प्रकार के उपन्यासों में आगे से पीछे की ओर जाता है । एक लाश पड़ी हुई मिल गयी और फिर उसके रहस्य को खोलने में ही सारा उपन्यास पूरा हो जाता है । ऐसे उपन्यासों में कल्पना के साथ बुद्धि-तत्व का भी पुट रहता है ।

(4) तिलस्मी उपन्यास :

"तिलस्मी" शब्द में मूल शब्द "तिलस्म" है, जिसका अर्थ रहस्य-भेदन होता है । इन उपन्यासों में कोई ऐसा पात्र होता है

जिसके रहस्य को प्राप्त किये बिना कार्य संपन्न नहीं हो सकता । इस प्रकार के तिलस्म का संकेत रामायण की कथा में भी मिलता है । जब राम को रावण की मृत्यु का रहस्य ज्ञात होता है, तभी वह रावण का वध कर पाते हैं । तिलस्मी उपन्यासों में जादू-टोना, चमत्कार जैसे तत्वों की भरमार होती है । देवकीनंदन खत्री द्वारा प्रणीत "चन्द्रकान्ता" [सन् 1882] तथा " चन्द्रकान्ता संतति" [सन् 1896 - 24 भाग दोनों मिलाकर] की गणना ऐसे तिलस्मी उपन्यासों में होती है । यह उपन्यासमाला इतनी लोक-विख्यात हुई थी कि कई लोगों ने हिन्दी भाषा को इसलिए सीखा था कि वे उसको पढ़ सकें । इसमें "अरेबियन नाईट्स " की भाँति कहानी-दर-कहानी का शिल्प मिलता है । इसमें सैकड़ों पात्र और हजारों घटनाएं संकलित हैं, परन्तु लेखक के प्रबंध-कौशल की दाद देनी होगी कि वे कहीं भी उलझे नहीं हैं । इस उपन्यासमाला के उपरांत खत्रीजी ने "नरेन्द्र मोहिनी" [1893] , "वीरेन्द्रवीर " [1895] , तथा "कुसुमकुमारी" [1897] जैसे तिलस्मी उपन्यास दिए हैं । हरेकृष्ण जौहर कृत " कुसुमलता" [1899] भी एक उल्लेखनीय तिलस्मी उपन्यास है । देवकीनंदन खत्री के पुत्र गोपालनंदन खत्री ने "भूतनाथ" नामक तिलस्मी उपन्यास लिखा जिसके कई भाग प्रकाशित हुए । तिलस्मी उपन्यास सामान्य जनता में बहुत ही लोकप्रिय हुए । इसमें रहस्य और रोमांच प्रिय सस्ती कल्पना को पुष्टि मिलती है । यहाँ प्रायः कोई सुंदरी राजकुमारी किसी रहस्यमय तिलस्मी इमारत में कैद हो जाती है । उसका प्रेमी राजकुमार अपने हरफनमौला ऐयार की सहायता से तिलस्म तोड़कर उसका उद्धार करता है । इस प्रकार के उपन्यासों में यथार्थ के स्थान पर वायवी कल्पनाओं तथा फैन्टसी को प्राधान्य दिया जाता है । यही कारण है कि हिन्दी के कतिपय आलोचक मानते हैं कि देवकीनंदन खत्री जैसे लेखकों ने हिन्दी उपन्यास के स्वाभाविक विकास को पथभ्रष्ट किया है ।

बालकृष्ण भट्ट , पं. श्रीराम कुमारी , मन्नन द्विवेदी जैसे लेखकों ने समस्याप्रधान उपन्यासों का एक रास्ता जो निर्मित किया था उसमें बाबू देवकीनंदन खत्री तथा बाबू गोपालराम गहमरी जैसे लेखकों ने एक गति-रोध ही पैदा किया ।

§5§ अनूदित उपन्यास :

"अनूदित " शब्द "अनु + उदित " के योग से व्युत्पन्न हुआ है । जो उपन्यास पहले किसी एक भाषा में प्रकाशित हो चुका हो और उसका भाषान्तर जब दूसरी भाषा में होता है तो उसे अनूदित उपन्यास कहते हैं । यद्यपि अनूदित उपन्यासों की गणना किसी भाषा-साहित्य के इतिहास में होती नहीं है , तथापि औपन्यासिक विकास के प्रारंभिक दौर में हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने अनूदित उपन्यासों का समावेश किया है , क्योंकि हिन्दी उपन्यास के विकास में उनका भी एक निश्चित योगदान रहा है । अतः प्रेमचन्दपूर्वकाल में अनूदित उपन्यासों का उल्लेख हुआ है । अनूदित उपन्यासों की परंपरा तो आजावधि चालू रही है , परन्तु परवर्ती कालों में उनका उल्लेख नहीं किया गया । पूर्वप्रेमचन्द युग में सबसे अधिक अनुवाद बंगला साहित्य से किये गये । मराठी , गुजराती , अंग्रेजी तथा उर्दू से भी कुछ अनुवाद हुए । भारत में नवीन सामाजिक जागरण का आरंभ बंग-प्रदेश से ही हुआ था । अतः उपन्यासों के अनुवाद के माध्यम से उस नवीन जागृति का विस्तार हिन्दी प्रदेश में भी हुआ । [20] उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में बंगला-साहित्य में बंकिमचन्द्र चटर्जी , दामोदर मुखर्जी , रमेशचन्द्र दत्त , तारकनाथ गांगुली तथा स्वर्णकुमारी प्रभृति लेखकों के उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुए थे । अतः आलोच्य कालावधि में प्रायः इन्हीं के उपन्यास अनूदित हुए , जो इस प्रकार है —

बंगला उपन्यास	अनूदित उपन्यास
(1) बंग विजेता (रमेशचन्द्र दत्त)	बंग विजेता (गदाधरसिंह)
(2) दुर्गेशनंदिनी (बंकिमचन्द्र)	दुर्गेशनंदिनी (गदाधरसिंह)
(3) राजपूत जीवन संध्या (रमेशचन्द्र दत्त)	राजपूत जीवन संध्या (जनार्दन झा)
(4) स्वर्णलता (तारकनाथ गांगुली)	बाबू राधाकृष्णदास – स्वर्णलता
(5) राजसिंह, इन्दिरा, राधारानी युगलांगुरीय (सभी बंकिमचन्द्र)	सभी – प्रतापनारायण मिश्र
(6) माधवी कंकण (रमेशचन्द्र दत्त)	माधवी कंकण – जनार्दन झा
(7) मृण्मयी (दामोदर मुखर्जी)	मृण्मयी – राधाचरण गोस्वामी
(8) दीपनिर्वाण (स्वर्णकुमारी)	दीपनिर्वाण – मुंशी उदितनारायण लाल

उपर्युक्त उपन्यासों के अतिरिक्त भी बंगला के कई उपन्यासों के अनुवाद हुए जिनमें "विरजा", "प्रमदा", मधुमालती", "दो बहनें", "तीन पतोहू" आदि मुख्य हैं।

श्रीमती मल्लिकादेवी ने बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रेरणा से मराठी से "चन्द्रप्रभा पूर्णप्रकाश" नामक उपन्यास का अनुवाद किया। बाबू रामकृष्ण वर्मा ने "छत्रताल" नामक उपन्यास का अनुवाद किया। मेहता लज्जाराम शर्मा ने गुजराती से "कपटी मित्र" उपन्यास का अनुवाद किया। उस समय अंग्रेजी में रेनाल्ड्स के उपन्यास बहुचर्चित थे। अतः रेनाल्ड्स के "लैला", "लंदन-रहस्य" तथा "नर-पिशाच" नामक उपन्यास हिन्दी में अनूदित हुए। "नर-पिशाच" का अनुवाद हरिकृष्ण जौहर ने किया था। श्रीमती स्टो के बहुचर्चित उपन्यास का अनुवाद "टाम काका की कुटिया" के नाम से हुआ। उर्दू से अनुवाद करने वालों में बाबू रामकृष्ण वर्मा और गंगाप्रसाद गुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं। रामकृष्ण वर्मा ने कुछ अद्भुत घटनाप्रधान उपन्यासमालाओं के अनुवाद प्रस्तुत किए,

जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं — अमलाबृतान्तमाला, कांस्टेबुलबृतान्तमाला, जगबृतान्तमाला, पुलिसबृतान्तमाला आदि आदि । गंगाप्रसाद गुप्त ने "पूना में हलचल" नामक उपन्यास का अनुवाद प्रस्तुत किया । [21]

डा. रामचन्द्र तिवारी आलोच्यकाल के अनूदित उपन्यासों के संदर्भ में लिखते हैं —" प्रेमचन्दपूर्व युग के उपर्युक्त अनूदित उपन्यासों का हिन्दी उपन्यास साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योग है । इन अनुवादों के माध्यम से हिन्दी लेखकों का मानसिक क्षितिज विस्तृत हुआ और उन्होंने हिन्दी उपन्यास साहित्य को अधिक प्रेरणाप्रद और रसात्मक बनाने की चेष्टा की ।" [22]

: प्रेमचन्दयुग :

यद्यपि प्रेमचन्द का लेखन तो सन् 1901 के आसपास से मिलने लगता है, तथापि प्रेमचन्दयुग का प्रारंभ उनके आविर्भाव काल से अर्थात् सन् 1918 से माना जाता है । आठ अक्तूबर सन् 1936 को प्रेमचन्दजी का निधन हुआ । अतः सन् 1918 से सन् 1936 तक का कालखंड प्रेमचन्दयुग से अभिहित किया गया है । कुछ आलोचकों का मानना है कि प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास को एक नया मोड़ दिया, किन्तु वस्तुतः इसे अर्धसत्य ही कहा जायेगा, क्योंकि देवकीनंदन खत्री तथा बाबू गोपालराम गहमरी ने हिन्दी उपन्यास को जो दिग्भ्रमित कर दिया था, उसे पुनः सही पटरी पर लाने का और औपन्यासिक कला की दृष्टि से उसे विकसित करने का कार्य भी प्रेमचन्द ने किया । डा. रामविलास शर्मा ने इस संदर्भ में लिखा है —" चन्द्रकान्ता और तिलस्मे होशरुबा के पढ़ने वाले लाखों थे । प्रेमचन्द ने इन लाखों पाठकों को अपनी तरफ ही नहीं खींचा, "चन्द्रकान्ता" में अरुचि भी पैदा की । जन-रुचि के लिए उन्होंने नये मापदण्ड कायम किए । यह उनकी जबरदस्त सफलता थी ।" [23]

पं. श्रद्धाराम फुल्लौरी , लाला श्रीनिवासदास , बालकृष्ण भट्ट , मन्नन द्विवेदी प्रभृति लेखकों ने सामाजिक समस्यामूलक उपन्यासों का पथ तो प्रशस्त कर दिया था ; परन्तु उपन्यास को उसका वास्तविक गौरव प्रेमचन्द के द्वारा ही मिला । प्रेमचन्द का अपने समकालीन भारतीय लेखकों तथा पाश्चात्य लेखकों का अध्ययन काफ़ी गहरा था । उर्दू के तत्कालीन अफ़सानानिगार रतननाथ सरसार को उन्होंने अपने में काफ़ी पचाया था । इस संदर्भ में "कलम का सिपाही" में अमृतराय लिखते हैं —" वही सामाजिक पैनी दृष्टि , वही बात कहने का फड़कता अन्दाज़ । सरसार की मुंशीजी जिस प्रकार घोलकर पी गये थे , वही अब उनके लिखने में उतर आया था । सरसार के किस्से जिस तरह गली-कूचे , मेले-ठेले , यहां-वहां , सब जगह रुकते-ठहरते और उनकी तस्वीर उतारते हुए चलते हैं । वही चीज यहां है । समाज के विभिन्न अंगों की वही सजीव चित्रमय पकड़ । अन्तर इतना ही है कि , और वह बड़ा अन्तर है कि मुंशीजी में विद्रोही तत्व अधिक है । मगर ढंग उन्होंने सोलहों आने सरसार का ही अपनाया है । " 24

विश्व-साहित्य में विक्टर ह्यूगो , डिकेन्स , टालस्टाय , जार्ज इलियट , गार्ल्सवर्दी , अनातोले फ्रान्स , थैकरे , राइडर हैगर्ड , एलेक्जांडर कुप्रिन जैसे लेखकों का अध्ययन उन्होंने किया था । प्रेमचन्द के विशद और विस्तृत अध्ययन के संदर्भ में जैनेन्द्रकुमार लिखते हैं — " मैं यह देखकर विस्मित हुआ कि आधुनिक साहित्य की प्रवृत्ति से वह कितने घनिष्ठ रूप में अवगत हैं । यूरोपीय साहित्य में जानने योग्य उन्होंने जाना है ; ~~[illegible]~~ जानकर ही नहीं छोड़ दिया , भीतर से पचाया भी है और फिर विवेक से छानकर आत्मसात किया है ।" 25 प्रेमचन्द ने न केवल लिखा , बल्कि एक युग-चेतना को प्रेरित करते हुए कई लोगों को लिखने के लिए प्रेरित

किया । लेखकों का मार्गदर्शन किया । लेखकों को साहित्य में स्थापित किया । आज हिन्दी में जैनेन्द्र, अज्ञेय, राधाकृष्ण जनार्दन नागर, जनार्दन झा द्विज, गंगाप्रसाद मिश्र, उपेन्द्रनाथ "अश्क", वीरेन्द्रकुमार जैन, पहाड़ी जैसे अनगिनत लेखक हैं ; जिनको प्रेमचन्द ने अपने हाथों से संवारा है । जिनकी नयी प्रतिभा को उन्होंने पहचाना, उजागर किया और प्रोत्साहन देकर आगे बढ़ाया । [27] आज के सुप्रसिद्ध ज्ञानपीठ पुरस्कार-विजेता उर्दू शायर फिराक गोरखपुरी को सर्वप्रथम कवि-रूप में स्थापित करने का श्रेय भी प्रेमचन्दजी को ही जाता है । [28] इस प्रकार प्रेमचन्दजी अपने आप में एक संस्था, एक युग थे ।

प्रेमचन्द के समय हमारे देश में चतुर्मुखी शोषण का विषचक्र चल रहा था । एक तरफ गरीब किसान और मजदूरों का शोषण हो रहा था, दूसरी तरफ दलितों का, तो तीसरी तरफ स्त्रियों का शोषण रूढ़ियों परंपराओं और शास्त्रों के नाम पर हो रहा था । चौथी तरफ समूचे देश का शोषण अंग्रेजों के द्वारा हो रहा था । प्रेमचन्द ने इस चतुर्मुखी शोषण से उत्पन्न तमाम प्रकार की मानवीय समस्याओं और यातनाओं को अपने औपन्यासिक लेखन में उद्घाटित किया । डॉ. पंकज बिष्ट ने प्रेमचन्द के औपन्यासिक प्रदान के संदर्भ में उपयुक्त ही कहा है — " उपन्यास की विशेषता यदि जीवन के सर्वाधिक निकट होने और प्रामाणिक चित्रण की सामर्थ्य में है तो मानवीय मन की गहनतम पैठ में भी है । उपन्यास की इस सामर्थ्य को हमारे इस उपमहाद्वीप में पिछली एक सदी के परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में घटित होते देखा जा सकता है । कांग्रेस का उदय, गांधीजी का आगमन और स्त्री-क्रान्ति की पृष्ठभूमि से पैदा हुई राजनैतिक चेतना संवेदनात्मक स्तर पर जो उद्वेलन किया, उसकी परिणति प्रेमचन्द की रचनाओं में किसी ज्वालामुखी की तरह फूटी ।" [29]

राल्फ फाक्स ने उपन्यास के संदर्भ में कहा था कि उपन्यास वह पहली कला है जिसमें मनुष्य को उसकी समग्रता के साथ ग्रहण किया गया है । मानव-चरित्र की यह पहचान हमें सर्वप्रथम प्रेमचन्द में मिलती है । हमारी परंपरा के सारे नायक और अधिनायक यहां खलनायक के रूप में आये हैं, और अभी तक जो लोग हाशिये पर थे वे केन्द्र में आ गये । होरी, चेतू, बलराम, सूरदास आदि इसके उदाहरण हैं ।

वरदान, सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, कर्मभूमि, निर्मला, प्रतिज्ञा, गबन, मंगलसूत्र (अपूर्ण) आदि प्रेमचन्द के उपन्यासों में हमें एक क्रमिक विकास मिलता है । यह विकास स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर, आदर्शवाद से यथार्थवाद की ओर, आर्यसमाजी विचारधारा से गांधीवाद होते हुए मार्क्सवाद की ओर और सामाजिक समस्याओं से राष्ट्रीय समस्याओं की दिशा में अग्रसर हुआ है ।

यह अनेक बार कहा जा चुका है कि प्रेमचन्द के पूर्व हिन्दी उपन्यास साहित्य की स्थिति अच्छी नहीं थी । हिन्दी में प्रेमचन्दजी की ये प्रथम प्रौढ़ औपन्यासिक रचना "सेवासदन" ही है । सामाजिक समस्याओं के निरूपण की दृष्टि से "सेवासदन" प्रेमचन्दजी की प्रथम महत्वपूर्ण कृति है, जिनमें उनकी चौमुखी दृष्टि का प्रथम परिचय होता है जो बाद में निरंतर विकसित होती गई है । [30] "वरदान" का हिन्दी में प्रकाशन सन् 1920 का है, परन्तु वस्तुतः वह "सेवासदन" के पहले की कृति है । उर्दू में उसका प्रकाशन सन् 1912 में "जलवा-ए-ईसार" नाम से हो चुका था । अतः "सेवासदन" की तुलना में "वरदान" कुछ कमजोर और अर्ध आरियक्ष उपन्यास दृष्टिगोचर होता है । "सेवासदन" का प्रकाशन हिन्दी के लिए वरदान सिद्ध हुआ । डा. मनोहर बंदोपाध्याय ने इस घटना के संदर्भ में लिखा है — "Hindi readers

Where during this time under the spell of Novels written by Devkinandan Khatri, Kishoreelal Goswami, shree Nivasdas, Balkrishna Bhatt and Gopalram Gahmari, there where also the translations of Urdu Novel which had gained popular readership. But these novels where either coarse entretainrs or moralising sermons with ornamaintal laugue there will no piture real life nor any attention to the technique and craft of the novel. Premchand interduce to the first time, In this novel, the language and the life of real people.(31)

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि "सेवासदन" के प्रकाशन के साथ उनकी उपन्यास-यात्रा हिन्दी में जो चल पड़ी वह निरंतर सन् 1936 तक अविरत गति से चलती रही । "सेवासदन" में उन्होंने नारी-जीवन के संदर्भ में दहेज-समस्या तथा वेश्या-समस्या को उकेरा । वस्तुतः "सेवासदन" एक ऐसा उपन्यास है जिसमें प्रेमचन्दजी के परवर्ती कई उपन्यासों के ही बीज मिलते हैं । उक्त दो समस्याओं के अतिरिक्त हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य की समस्या, भारतीय लोगों की गुलाम मनोदशा की समस्या, सरकारी भ्रष्टाचार की समस्या, तत्कालीन हिन्दी साहित्य की दरिद्रता की समस्या आदि अनेकानेक समस्याओं को वस्तुगत दृष्टि से उद्घाटित किया गया है । "वरदान" उपन्यास में उन्होंने अनमेल विवाह के दुष्परिणामों को पाठकों के सम्मुख रखा है । उनका "प्रतिज्ञा" उपन्यास वैसे तो सन् 1929 में प्रकाशित होता है, परन्तु उर्दू में वह "हमसुगा-ओ-हमसवाब" नाम से प्रकाशित हो चुका था । इसमें उन्होंने विधवा-विवाह की समस्या को उठाया था । ठीक उसी प्रकार उनका "गबन" उपन्यास ~~हिन्दी में~~ उर्दू में सन् 1907 में "फिरना" नाम से प्रकाशित हो चुका था । बाद में यही उपन्यास कुछ संशोधन

और परिवर्तन के साथ हिन्दी में "गबन" नाम से प्रकाशित हुआ था। इसमें उन्होंने मध्यवर्गीय आडंबर और दिखावे की प्रवृत्ति की भर्त्सना की है। "निर्मला" उपन्यास नारी-जीवन की महान त्रासदी है। दहेज की अधिकता के कारण निर्मला जैसी सुंदर और सुशील कन्या का जीवन किस प्रकार बरबाद होता है, उसे इस उपन्यास में देखा जा सकता है। इन उपन्यासों में प्रेमचन्द की दृष्टि कुछ हद तक सामाजिक समस्याओं तक सीमित रही है। परन्तु एक बड़ा लेखक अपने समय की न केवल सामाजिक समस्याओं को उकेरता है, अपितु वह अपने समय के इतिहास को भी प्रस्तुत करता है। "प्रेमाश्रम", "रंगभूमि", "कायाकल्प", "कर्मभूमि" तथा "गोदान" जैसे उपन्यासों में हमें प्रेमचन्द की इस विस्तृत दृष्टि का परिचय मिलता है। जहाँ उन्होंने एक बड़े फलक पर हमारी राष्ट्रीय समस्याओं को यथार्थतः प्रस्तुत किया है।

हिन्दी के कई आलोचक "प्रेमाश्रम" को हिन्दी का सर्वप्रथम राजनीतिक उपन्यास मानते हैं। इसमें प्रेमचन्दजी ने किसानों और जमींदारों के पारस्परिक संबंध और उनके टकरावों को रेखांकित किया है। डा. एस.एन. गणेशन इस उपन्यास के संदर्भ में लिखते हैं — " भारत की सामान्य जनता का जागरण और अपने हक के लिए लड़ाई भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का एक प्रमुख अंग है और इस जागरण पर लिखित के प्रथम श्रेष्ठ उपन्यास के रूप में "प्रेमाश्रम" महत्वपूर्ण रचना है।" 32

इस महाकाव्यात्मक उपन्यास में लेखक ने शताब्दियों से पददलित कृषक समाज, उसकी अज्ञानता, उसके अंधविश्वास, उसकी धर्मभीरुता, जमींदार और उसके कारिन्दों के अत्याचार इत्यादि को यथार्थवादी शैली में प्रस्तुत किया है; परन्तु उपन्यास का उत्तरार्द्ध प्रेमचन्दजी की आदर्शवादिता एवं आशावादिता के के कारण

यथार्थ से थोड़ा दूर चला गया है । किसानों की समस्याओं के समाधान के रूप में लेखक हाजीपुर गाँव में "प्रेमाश्रम" की स्थापना करवाते हैं । हृदय-परिवर्तन का यह गांधीवादी तरीका है ।

"रंगभूमि" भी प्रेमचन्दजी का एक बहुआयामी उपन्यास है । इसमें प्रेमचन्दजी ने राष्ट्रीय आंदोलन की पृष्ठभूमि में औद्योगीकरण की समस्या को भी उठाया है । यह बड़े आश्चर्य की बात है कि प्रेमचन्द जैसा वस्तुवादी लेखक "कायाकल्प" में जन्म-जन्मांतर के कथानक की सृष्टि करता है । रानी देवप्रिया और उसके पति के पूर्व-जन्म की कथा किसी तिलस्मी उपन्यास से कम नहीं लगती । परन्तु ऐसे नितान्त पार्थवी उपन्यास में भी प्रेमचन्दजी अपनी मुख्य चिंता को प्रकट किए बिना नहीं रहते और यह चिन्ता है -- हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य की समस्या । "कर्मभूमि" के कथानक का तानाबाना भी तत्कालीन राजनीतिक आंदोलनों के साथ-साथ अछूतोद्धार, जमींदार-किसान संघर्ष, महाजनों की सूदखोरी और उससे हो रहे किसान-मजदूरों के शोषण जैसी समस्याओं को लेखक ने यहाँ भी उठाया है ।

प्रेमचन्दजी की औपन्यासिक कला का चरम विकास "गोदान" में दृष्टिगोचर होता है । "गोदान" में लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि किसानों का शोषण केवल जमींदार और महाजन ही नहीं अपितु सभी करते हैं । एक पूरी "मशीनरी" है जो इस प्रक्रिया से जुड़ी हुई है । पटवारी, जमींदार के कारिन्दे, थानेदार, कान्सटेबल, कानूनगो, तहसीलदार, डिप्टी मैजिस्ट्रेट, कलक्टर, कमिश्नर आदि सभी किसान का शोषण करते हैं । कलक्टर, कमिश्नर और प्रशासनिक अधिकारी यदि जमींदारों से पैसे ऐंठते हैं, उनसे दावतें लेते हैं और रंगरेलियाँ मनाते हैं, तो अंततोगत्वा

उसे भी चुकाना तो किसानों को ही पड़ता है, क्योंकि जमींदार यह रकम किसानों से वसूलता है। डा. एस.एन. गणेशन ने "गोदान" की यथार्थवादी दृष्टि को लक्षित करते हुए कहा है —

" आदर्शों, अपरीक्षित सिद्धान्तों तथा अर्धपरीक्षित वादों से अपने-आप को सम्बद्ध रखने के कारण उनके पूर्व-लिखित उपन्यासों में जो विफलताएं या दुर्बलताएं प्रकट हुई थीं, उन सबसे बहुत-कुछ मुक्त होकर वे यहां जीवन-मात्र को व्यंजित करनेवाली यथार्थवादी कला के राजपथ से अग्रसर होते दिखते हैं। ... कथा-कथन की कुशलता, चरित्र-चित्रण की सुघरता, समस्याओं के अध्ययन की सूक्ष्मता आदि प्रेमचन्द के जितने गुण उनके प्रारंभिक उपन्यासों में प्रकट हो चुके थे वे इसमें अधिक निखरे हुए रूप में प्रत्यक्ष हुए हैं। पटभूमि अधिक विस्तृत हो गयी है, मनोभावों का विश्लेषण अधिक गहरा हो गया है, जीवन की व्याख्या का दृष्टिकोण अधिक संतुलित हो गया है; और इस तरह "गोदान" यथार्थवाद की दृष्टि से उनके अन्य उपन्यासों से कोसों दूर आगे बढ़ आया है।" [33]

"गोदान" के की इस यथार्थवादी प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए डा. इन्द्रनाथ मदान लिखते हैं — " यह उपन्यास केवल होरी का 'गोदान' नहीं है। प्रेमचन्द की आस्था का भी 'गोदान' है। सदनों, निकेतनों और आश्रमों में लेखक की आस्था का 'गोदान' है। उनका विश्वास सुधारवादी-गांधीवादी समाधान से उठ गया है। प्रेमचन्द की संवेदना नया मोड़ लेती है। " [34]

डा. पारुकान्त देसाई "गोदान" के संदर्भ में टिप्पणी देते हैं — " प्रेमचन्दजी की दीर्घदृष्टि ने सुदूर भविष्य की कल्पना कदाचित् कर ली थी। अतः गोदान में शोषकों का एक नया रूप वे

ने आये हैं । उन्होंने देशभक्ति का मुखौटा पहन लिया है । जमींदार रायसाहब अमरपालसिंह आंदोलन में जेल भी हो आये हैं । दूसरी ओर अंग्रेजों के कृपाकांक्षी भी हैं और किसानों को भी चूस रहे हैं -- एक नये अंदाज में कि पता भी न चले । [35] प्रोफेसर मेहता उनका पर्दाफाश करते हुए ठीक ही कहते हैं -- " मानता हूं, आपका आपके असामियों के साथ बहुत अच्छा बर्ताव है, मगर प्रश्न यह है कि उसमें आपका स्वार्थ है या नहीं, इसका एक कारण क्या यह नहीं हो सकता कि मद्धिम आंच में भोजन स्वादिष्ट पकता है । गुड़ से मारने वाला जहर से मारने वाले की अपेक्षा कहीं अधिक सफल हो सकता है । मैं तो केवल इतना जानता हूं कि हम या तो साम्यवादी हैं या नहीं है । हैं तो उसका व्यवहार करें, नहीं हैं तो बकना छोड़ दें । " [36]

यहां प्रो. मेहता के रूप में मानो प्रेमचन्दजी की आत्मा ही बोल रही है । अतः इतना तो स्पष्ट हो गया है कि गोदान तक आते-आते प्रेमचन्दजी पूर्णतः यथार्थवादी हो गये थे । यदि "मंगलसूत्र" पूर्ण होता तो स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती और यथार्थवाद का और निखरा हुआ रूप उसमें दृष्टिगत होता । प्रेमचन्दजी के औपन्यासिक लेखन पर एक विहंगम दृष्टिपात करते हुए ज्ञापित हुए बिना नहीं रहता कि प्रेमचन्दजी की औपन्यासिक कला में सोद्देश्यता, मानवीय संवेदना, राष्ट्रीयता की भावना, समस्याओं की सूक्ष्म पकड़, मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण, आदर्श से क्रमशः यथार्थ की ओर विकास जैसे कतिपय अभिलक्षण उपलब्ध होते हैं । प्रेमचन्दजी का महत्त्व इसलिए भी है कि उन्होंने कथा-साहित्य में एक नये युग का आविर्भाव किया और लेखकों की एक पूरी पीढ़ी तैयार की ।

प्रेमचन्दयुग के लेखकों में विश्वम्भरनाथ शर्मा "कौशिक", पांडेय बेचन शर्मा "उग्र", चतुरसेन शास्त्री, भगवतीप्रसाद वाजपेयी,

भगवतीचरण जैन , जयशंकर प्रसाद , वे प्रतापनारायण श्रीवास्तव , राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह , वृन्दावनलाल वर्मा , सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" , सियारामशरण गुप्त , गोविन्दवल्लभ पंत , राजेश्वर प्रसाद , धनीराम प्रेम , प्रफुल्लचन्द्र ओझा , श्रीनाथ सिंह , उषा-देवी मित्रा , शिवरानीदेवी , तेजोरानी दीक्षित , चन्द्रशेखर शास्त्री, गंगाप्रसाद श्रीवास्तव , गंगाप्रसाद मिश्र , जैनेन्द्रकुमार , इलाचन्द्र जोशी , भगवतीचरण वर्मा आदि का समावेश किया जा सकता है ।

उपर्युक्त लेखकों में से अंतिम तीन लेखकों का लेखन प्रेमचन्दयुग में प्रारंभ हो गया था , परन्तु उनका औपन्यासिक विकास तो प्रेम-चन्दोत्तर काल में ही होता है । प्रेमचन्दयुग में समस्यामूलक उपन्यासों का बोलबाला रहा , यहाँ तक कि वृन्दावनलाल वर्मा तथा चतुरसेन शास्त्री जैसे लेखक जो बाद में ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में स्थापित हुए , उन्होंने भी इस युग में अधिकांशतः सामाजिक उप-न्यासों का ही प्रणयन किया ।

इस युग के चर्चित उपन्यासों में "विदाएँगी " (विश्व-म्भरनाथ शर्मा "कौशिक") ; "बुधुआ की बेटी " (उग्रजी) ; हृदय की प्यास " (चतुरसेन शास्त्री) ; "त्यागमयी " (भगवतीप्रसाद वाजपेयी) ; "गाई " (भगवतीचरण जैन) ; "कंकाल" (जयशंकर प्रसाद) , "वचन का मोल " (उषादेवी मित्रा) , हृदय का काँटा (तेजोरानी दीक्षित) , अंतिम आकांक्षा " (सियाराम शरण गुप्त) , "विराटा की पद्मिनी " (वृन्दावनलाल वर्मा) , "चित्रलेखा" (भगवतीचरण वर्मा) , "परख" (जैनेन्द्रकुमार) आदि उपन्यासों की गणना कर सकते हैं ।

प्रेमचन्द की भाँति इन उपन्यासों में भी तत्कालीन समाज की अनेकानेक समस्याओं को चित्रित किया गया है । प्रवृत्ति की

दृष्टि से हमें इस युग में दो प्रकार के उपन्यास मिलते हैं — सामाजिक और ऐतिहासिक । कुछ शिल्पगत भी प्रयोग मिलते हैं, जैसे पत्रात्मक शैली में "चन्द हसीनों के खुतूत" (उग्र) तथा आत्मकथात्मक शैली में "अंतिम आकांक्षा" जैसे उपन्यास मिलते हैं । "उग्रजी" के घण्टा उपन्यास में फैण्टसी का भी उपयोग हुआ है । जैनेन्द्रजी ने "परख" में संवादात्मक शैली का प्रयोग किया है । सम्प्रति इतना तो असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि इस युग में वस्तु-चेतना तथा शिल्प उभय दृष्टि से औपन्यासिक क्षेत्र में काफी विकास दृष्टिगत होता है । हिन्दी उपन्यास एक निश्चित गरिमा को प्राप्त होता है ।

: प्रेमचन्दोत्तरयुग :

सन् 1936 को प्रेमचन्द का निधन हुआ । अतः 1936 के बाद के युग को हिन्दी-साहित्य में प्रेमचन्दोत्तरकाल कहा गया है । इस काल में हमें निम्नलिखित औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं :—

(1) सामाजिक उपन्यास
(2) ऐतिहासिक उपन्यास
(3) मनोवैज्ञानिक उपन्यास
(4) समाजवादी उपन्यास
(5) आंचलिक उपन्यास
(6) पौराणिक उपन्यास
(7) राजनीतिक उपन्यास
(8) व्यंग्यात्मक उपन्यास
(9) साठोत्तरी उपन्यास
(10) समकालीन उपन्यास

यहाँ यह ध्यातव्य रहे कि उपर्युक्त श्रेणी-विभाजन अध्ययन की सुविधा के लिए है । यह औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ "वाटर-टाईप" कम्पार्टमेण्ट नहीं हैं । कई बार एक ही उपन्यास एकाधिक कोटियों में भी पाया जाता है ।

§1§ सामाजिक उपन्यास :

सामाजिक उपन्यास तो प्रारंभ से ही मिलते हैं । प्रेमचन्द-युग के बहुत-से लेखक इस युग में भी सामाजिक उपन्यास के लेखन की प्रवृत्ति में अग्रसर रहे हैं, परन्तु दूसरे नये लेखक जो इस औपन्यासिक प्रवृत्ति के अंतर्गत आते हैं, उनमें उपेन्द्रनाथ अश्क, अमृतलाल नागर, हिमांशु श्रीवास्तव, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, शैलेश मटियानी, भगवतीचरण वर्मा, भगवतीशरण मिश्र आदि मुख्य हैं । उनकी औपन्यासिक उपलब्धियों में "गिरती दीवारें", शहर में घूमता आईना" §उपेन्द्रनाथ अश्क§; "बूंद और समुद्र", "अमृत और विष", महाकाल" §अमृतलाल नागर§; "लोहे के पंख", "नदी फिर बह चली" §हिमांशु श्रीवास्तव§; "छाया मत छूना मन" § हिमांशु जोशी§; "सारा आकाश", "अनदेखे अनजान पुल" § राजेन्द्र यादव§; "डाक बंगला", एक सड़क सत्तावन गलियां", "समुद्र में खोया हुआ आदमी" §कमलेश्वर§; "छोटे छोटे पक्षी", "आकाश कितना अनंत है", "चन्द औरतों का शहर" §शैलेश मटियानी§; "टेढ़े मेढ़े रास्ते", प्रश्न और मरीचिका" § भगवतीचरण वर्मा§; "एक और अहल्या", नदी नहीं मुड़ती" "लक्ष्मणरेखा" § डा. भगवतीशरण मिश्र§ आदि उपन्यासों की परिगणना हो सकती है । इन उपन्यासकारों ने शहरी जीवन के दबाव, टूटते-बिखरते परिवार, बेरोजगारी की समस्या, आवास की समस्या, खंडित दाम्पत्य की समस्या, खंडित दाम्पत्य

के कारण शिशु-मानस पर पड़ते कुप्रभावों की समस्या , राजनीति की फैलती घिनौनी छाया , सामाजिक-नैतिक भ्रष्टाचार , व्यक्ति के निरंतर अकेले होते जाने की समस्या , नारी का यौन-शोषण जैसे मुद्दों को विशेषतः रेखांकित किया है ।

§2§ ऐतिहासिक उपन्यास :

ए ऐतिहासिक उपन्यास की पूर्वपरम्परा प्रेमचन्दकाल से मिलता है , परन्तु जैसा कि पहले कहा गया है वास्तविक ऐतिहासिक उपन्यास का श्रीगणेश तो प्रेमचन्दयुग में वृन्दावनलाल वर्मा से हुआ । इस काल में के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में वृन्दावनलाल वर्मा , आचार्य चतुरसेन शास्त्री , आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी , अमृतलाल नागर , डा. भगवतीशरण मिश्र , शिवप्रसाद मिश्र , महापंडित राहुल सांकृत्यायन , यशपाल आदि की गणना की जा सकती है । "झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई " , महादजी सिंधिया , मृगनयनी § वृन्दावनलाल वर्मा § ; " जय सोमनाथ " , " वैशाली की नगरवधू " , " वयं रक्षामः " , " सोना और खून " § आचार्य चतुरसेन शास्त्री § ; " सिंह सेनापति " , " जय यौधेय " § महापंडित राहुल सांकृत्यायन§; "दिव्या" , " अमिता" § यशपाल § ; "बाणभट्ट की आत्मकथा" , "चारुचन्द्रलेख" , पुनर्नवा" , " अनामदास का पोथा " § आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी§ ; मानस का हंस " , " खंजनयन" § अमृतलाल नागर § ; पहला सूरज " , " चिदम्बरा" , "गुरु गोविन्दसिंह " § डा. भगवतीशरण मिश्र § ; मगध की जय ,§ शिवप्रसाद मिश्र § आदि इस कालखण्ड की के प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास हैं । अमृतलाल नागर तथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी के ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास के साथ-साथ सांस्कृतिक मूल्यांकन का आयाम दृष्टिगत होता है । महापंडित राहुल सांकृत्यायन तथा यशपाल

के उपन्यासों में इतिहास के गवाक्ष से समाजवादी चेतना का निरूपण मिलता है। वृन्दावनलाल वर्मा तथा डा. भगवतीशरण मिश्र जैसे उपन्यासकारों में इतिहास के पुनर्मूल्यांकन की चेष्टा दिखाई पड़ती है। कुल मिलाकर इस क्षेत्र में मौर्ययुग से लेकर प्रथम स्वाधीनता-संग्राम (सन् 1857) तक की ऐतिहासिक घटनाओं का लेखा-जोखा मिलता है।

(3) मनोवैज्ञानिक उपन्यास :

मनोवैज्ञानिक उपन्यास के संदर्भ में प्रेमचन्दजी का कथन है -- "मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र समझता हूँ।" प्रेमचन्दजी की इस परिभाषा में मनोवैज्ञानिक उपन्यास के बीज पड़े हुए हैं। सामाजिक उपन्यास समाज की समस्याओं को प्राधान्य देता है, जबकि मनोवैज्ञानिक उपन्यास चरित्रगत विशेषताओं और विचित्रताओं को उकेरता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास भी होते तो सामाजिक उपन्यास ही हैं, परंतु उसमें चरित्र के मनोविज्ञान, उसकी ग्रन्थियाँ, उसकी रुचियाँ और अरुचियाँ और उसके पीछे के कारण इत्यादि बातों को विशेष रूप से लिया जाता है। उसमें विशेषतः मनोवैज्ञानिक धर्मों (Psychological movements) को टोहने की प्रवृत्ति रहती है। नरोत्तम नागर के उपन्यास "दिन के तारे" के नायक का दाम्पत्य-जीवन गड़बड़ा जाता है, क्योंकि उसमें मातृबद्धत्व-ग्रंथि (Mother fixesion) पायी जाती है। "सूरजमुखी अँधेरे के" (कृष्णा सोबती) की नायिका रत्तिका एक ठण्डी औरत (frigid Woman) हो जाती है, क्योंकि शिशु-अवस्था में उस पर बलात्कार हुआ था। "प्रेत और छाया" (इलाचन्द्र जोशी) का नायक पारसनाथ दुनिया-भर की स्त्रियों को धिक्कारता है क्योंकि उसमें इडिपस काम्प्लेक्स पाया जाता है।

मनोवैज्ञानिक फ्रायड का कहना है कि लड़के का झुकाव प्रायः माँ की तरफ होता है, परन्तु किन्हीं कारणों से यदि पुत्र को अपनी माता से घृणा या वितृष्णा हो जाय तो इस ग्रन्थि का विकास होता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास में तथा ऐसी अन्य समस्याओं से जुड़ता है। अंग्रेजी में हेनरी जेम्स तथा जेन आस्टिन से इसका प्रारंभ होता है। हिन्दी में जैनेन्द्रकुमार से मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का प्रारंभ माना जाता है। जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, डा. देवराज, डा. रघुवंश, नरोत्तम नागर, सूर्यकुमार जोशी, राजकमल चौधरी, रमेश बक्षी, कृष्णा सोबती, मन्नू भण्डारी, राजेन्द्र यादव, [illegible], निर्मल वर्मा, कृष्णबलदेव वैद प्रभृति उपन्यासकारों ने प्रेमचन्दोत्तर काल में कुछ अच्छे साहित्यिक मनोवैज्ञानिक उपन्यास दिये हैं। "त्यागपत्र", "प्रेम और छाया", "नदी के द्वीप", अलग की डायरी, संसुजाल, "दिन के तारे", "दिगम्बरी", "मछली मरी हुई", अकारथ सूरज के पौधे", "सूरजमुखी अँधेरे के", "आपका बण्टी", "अनदेखे अनजान पुल", "तीसरा आदमी", "वे दिन", [illegible], "उसका बचपन" आदि क्रमशः उक्त उपन्यासकारों के प्रातिनिधिक मनोवैज्ञानिक उपन्यास हैं।

(4) समाजवादी उपन्यास :

समाजवादी उपन्यास भी सामाजिक उपन्यास होते हैं; परन्तु जहाँ सामाजिक उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं के निरूपण में किसी दृष्टि विशेष (view point) से काम नहीं लिया जाता, वहाँ समाजवादी उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं का आकलन मार्क्सवादी दृष्टि को ध्यान में रखकर किया जाता है। मार्क्सवाद मुख्यतः शोषितों का पक्षधर है। जहाँ भी समाज के जिस वर्ग का भी शोषण होता है, मार्क्सवाद उसका विरोध करता है। अतः मार्क्सवाद पूँजीवाद,

सामंतवाद, यथास्थितिवाद और साम्प्रदायवाद का विरोधी होता है। हमारे समाज में मुख्यतः शोषण छोटे किसानों, मजदूरों, दलितों और नारियों का हुआ। अतः मार्क्सवादी लेखक अपनी रचनाओं में इनका कट्टर पक्षधर होता है। धर्म और धर्म के नाम पर चलने वाले ढकोसलों, अंधविश्वासों आदि को वह नकारता है। समाजवादी सोच के तहत समाज में जो गैरबराबरी है, वह पूर्व-जन्म के पाप-पुण्यों के कारण नहीं, अपितु सामंतवादी घुसुआ सामाजिक व्यवस्था के कारण है। अतः भाग्यवाद, नियतिवाद और पुनर्जन्मवाद को वह नकारता है। इसी सबब वह यथास्थितिवाद का विरोध करते हुए समाज में आर्थिक व वैचारिक क्रान्ति लाना चाहता है। मार्क्सवादी चिंतनधारा के मोड़ में कार्ल मार्क्स का चिंतन मुख्यरूप से है एंजिल्स, लेनिन, माओ जैसे विचारकों ने आगे बढ़ाया है। हिन्दी के प्रेमचन्दोत्तरकालीन मार्क्सवादी लेखकों में यशपाल, राहुल सांकृत्यायन, गेरुवप्रसाद गुप्त, डा. रांगेय राघव, मन्मथनाथ गुप्त, अमृतराय, डा. राही मासूम रजा इत्यादि को परिगणित कर सकते हैं और उनके प्रमुख उपन्यासों में "झूठा सच", जय यौधेय, सती मैया का चौरा, कब तक पुकारूं, शहीद और शोहदे, हाथी के दांत, आधा गांव आदि को गिना जा सकता है। इनके अतिरिक्त "नदी फिर बह चली" (हिमांशु श्रीवास्तव), "अनारो" (मंजुल भगत), "गुदड़ी पीर" (जगदम्बाप्रसाद दीक्षित), "धरती धन न अपना" (जगदीशचन्द्र) आदि उपन्यासों को भी इन उपन्यासों की धारा में रखा जा सकता है।

(5) आंचलिक उपन्यास :

आंचलिक उपन्यास भी सामाजिक ही होता है, परन्तु उसमें किसी अंचल को उसकी समग्रता के साथ प्रस्तुत किया जाता है।

अंचल विशेष का चित्रण तो प्रायः सभी उपन्यासों में होता है । प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा, नागार्जुन आदि कई उपन्यासकारों ने अंचल-विशेष का ब्यौरेवार चित्रण किया है । फिर यह आंचलिक उपन्यास क्या है ? अंचल-विशेष का चित्रण तो उपन्यासों में होता था, परंतु जब किसी अंचल को उसकी तमाम-तमाम विशेषताओं के साथ — उसके लोग, उनकी बोलियाँ और उपबोलियाँ, उनके विश्वास-अविश्वास, उनकी मान्यताएँ, लोक-संस्कृति, लोकगीत, मेले-ठेले, खेत-खलिहान — अंकित किया जाता है ; तब उसे आंचलिक उपन्यास की संज्ञा मिलती है । हिन्दी में "आंचलिक उपन्यास" संज्ञा फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास "मैला आंचल" के बाद प्राप्त होती है । अंग्रेजी में वेसेक्स नॉवेल्स लिखे जाते थे, उनमें "लोकल कलर" मिलते हैं । आंचलिक उपन्यास में इसी लोकजीवन की रंगत को प्राधान्य दिया जाता है । एक प्रकार से हम इन उपन्यासों को वातावरण-प्रधान उपन्यास कह सकते हैं । इन उपन्यासों में वातावरण ही मानो उनका नायक होता है ।[37] "मैला आंचल" उपन्यास का नायक "मेरीगंज" गांव ही है । मैला आंचल, परती परिकथा, दीर्घतपा, जुलूस (फणीश्वरनाथ रेणु) ; सागर लहरें और मनुष्य (उदयशंकर भट्ट) ; जंगल के फूल (राजेन्द्र अवस्थी) ; बरफ के बेटे (नागार्जुन) ; कब तक पुकारूं (रांगेय राघव) ; पानी के प्राचीर, जल टूटता हुआ (डॉ. रामदरश मिश्र) ; अलग अलग वैतरणी (डॉ. शिवप्रसाद सिंह) ; आधा गांव (डॉ. राही मासूम रज़ा) ; हौलदार, एक मूठ सरसों (शैलेश मटियानी) आदि उपन्यासों की गणना आंचलिक उपन्यासों के अंतर्गत हो सकती है । हिमांशु श्रीवास्तव कृत "नदी फिर बह चली" का पूर्वार्द्ध तो आंचलिक है, परन्तु उत्तरार्द्ध को आंचलिक नहीं कह सकते । आंचलिक उपन्यास को लेकर हिन्दी के आलोचकों में विवाद भी है कि क्या आंचलिकता ग्रामीण अंचल को लेकर ही हो सकती है ? कोई

लेखक यदि नगर के किसी अंचल को लेकर चलें तो क्या उसकी गणना आंचलिकता में न होगी । जगदम्बाप्रसाद दीक्षित के उपन्यास "मुर्दाघर" तथा मंजुल भगत के उपन्यास "अनारो" में क्रमशः मुंबई तथा दिल्ली के झोंपड़-पट्टी के परिवेश को लिया गया है , तो क्या इनको आंचलिकता के दायरे से बाहर रखेंगे ? इस संदर्भ में हिन्दी उपन्यास-साहित्य के आलोचकों में मतैक्य नहीं है ।

§6§ पौराणिक उपन्यास :

पौराणिक और ऐतिहासिक उपन्यास में उतना ही अंतर है जितना पुराण और इतिहास में । इतिहास तथ्यों पर §Matter of fact§ आधारित होता है । उसकी तिथियां निर्धारित होती हैं । उन तिथियों को लेकर वाद-प्रतिवाद हो सकते हैं । दूसरी ओर पुराण कल्पनाओं पर आधारित होता है । उसमें समय की अवधारणा निश्चित नहीं होती । मिथकीय तत्वों का प्राधान्य होता है । मोटे तौर पर देखा जाय तो पौराणिक काल की कथाओं को पुराण-कथाएं कहा जा सकता है और इन पुराण-कथाओं पर आधारित उपन्यासों को पौराणिक-उपन्यास की संज्ञा मिल सकती है[38] । डा. नरेन्द्र कोहली द्वारा प्रणीत "दीक्षा" , अवसर" ~~अवसर-उपन्यास~~ युद्ध आदि उपन्यास रामायण के कथानक पर आधारित हैं । इसी तरह उन्होंने महाभारत को लेकर भी एक उपन्यासमाला का सृजन किया है[39] । इन उपन्यासों को पौराणिक-उपन्यास कहा जा सकता है । डा. भगवतीशरण मिश्र ने "प्रथम पुरुष" , "पुरुषोत्तम " तथा "पवनसुत" आदि पौराणिक उपन्यासों का प्रणयन किया है । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का उपन्यास "अनामदास का पोथा" ऋग्वेदकालीन समय को प्रस्तुत करता है , अतः उसे भी पौराणिक उपन्यास कहा जा सकता है । पौराणिक उपन्यासों में हमें विशेषतया दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं — 1. कहीं-कहीं पौराणिक आख्यानों

की आधुनिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या उपलब्ध हो होती है, तो 2. कहीं-कहीं चमत्कारिक मिथकों को यथावत रखने की प्रवृत्ति भी दृष्टि-गोचर होती है। नरेन्द्र कोहली की प्रवृत्ति प्रथम प्रकार की है तो डा. मिश्र की प्रवृत्ति दूसरे प्रकार की। [40]

§7§ राजनीतिक उपन्यास :

राजनीतिक उपन्यास सामाजिक उपन्यास भी हो सकता है, ऐतिहासिक उपन्यास भी हो सकता है और मार्क्सवादी या समाज-वादी उपन्यास भी हो सकता है। वस्तुतः जहाँ उपन्यास में राजनीति का पक्ष केन्द्रस्थ होता है वहाँ उसे राजनीतिक उपन्यास की संज्ञा प्राप्त होती है। [41] ऐसे उपन्यास प्रायः निकट अतीत से सम्बद्ध होते हैं। राजनीतिक-सिद्धान्त, राजनीतिक वाद-विवाद, राजनीतिक गति-विधियाँ, राजनीतिक पार्टियाँ और उनके सिद्धान्त आदि की व्याख्या ऐसे उपन्यासों में होती है। हिन्दी के कुछ आलोचक प्रेमचन्द के उपन्यास "प्रेमाश्रम" को हिन्दी का प्रथम राजनीतिक उपन्यास मानते हैं। [42] प्रेम-चन्दोत्तर काल में तो हमें कई राजनीतिक "थीम" वाले उपन्यास उप-लब्ध होते हैं। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में "भूले बिसरे चित्र", "टेढ़े-मेढ़े रास्ते", "प्रश्न और मरीचिका", "सबहिं नचावत राम गोसाईं" आदि उपन्यासों को हम राजनीतिक उपन्यासों की श्रेणी में रख सकते हैं। इनके अतिरिक्त "बेघर पूठा-भय", "दादा कामरेड", "मेरी तेरी उसकी बात" §यशपाल§ ; "सती मैया का चौरा" § भैरवप्रसाद गुप्त§ ; "एक पंखुड़ी की तेज़ धार" §शमशेरसिंह नरूला § ; "अपना मोर्चा" § बुधनाथसिंह § ; "नदी फिर बह चली § हिमांशु श्रीवास्तव § ; "दोपी शुक्ला", "आधा गाँव"

(डा. राही मासूम रज़ा) ; "काला जल" (भुवनेश्वर भारती) ; "जल टूटता हुआ", "सूखता हुआ तालाब" (डा. रामदरश मिश्र) ; "काली आँधी" (कमलेश्वर) ; "महाभोज" (मन्नू भण्डारी) ; "जंगलतंत्रम" (श्रवणकुमार गोस्वामी) ; "आकाश कितना अनंत है" (शैलेश मटियानी) ; "नदी नहीं मुड़ती" (डा. भगवतीशरण मिश्र) ; प्रभृति उपन्यासों को राजनीतिक उपन्यासों में परिगणित कर सकते हैं। [43]

(8) व्यंग्यात्मक उपन्यास :

व्यंग्यात्मक उपन्यास भी होते तो सामाजिक या राजनीतिक उपन्यास ही हैं, परन्तु उनमें मुख्य प्रवृत्ति व्यंग्य की रहती है। उपन्यास को "लिटरेचर आफ डिसकार्ड" अर्थात् "विरोध का साहित्य" कहा गया है। उपन्यास को उसके प्रारंभ-काल से ही समाज की जड़ रूढ़ियों, अंधविश्वासों और अत्याचारों और अन्यायों के खिलाफ लड़ना पड़ा है। मार्क्सवादी चिंतक मानते हैं कि साहित्य का उपयोग एक हथियार के रूप में होना चाहिए। उपन्यास पर यह बात पूर्णतः लागू हो सकती है। जहाँ विरोध होगा, वहाँ व्यंग्य होगा ही। अतः बालकृष्ण भट्ट, मन्नन द्विवेदी, प्रेमचन्द, रेणु, नागार्जुन आदि अनेकानेक उपन्यासकारों की रचनाओं में हमें व्यंग्य का पुट मिलता है। अतः व्यंग्य की उपस्थिति तो उपन्यास के प्रारंभ काल से ही हमें मिलती है, परंतु व्यंग्यात्मक उपन्यास केवल उन उपन्यासों को कहा जाएगा जो आदि से अन्त तक व्यंग्य का ही मेहर बनते हों। "व्यंग्य" को अंग्रेजी में "सैटायर" कहा जाता है। "सर्टैरस" नामक एक विचित्र जंतु के नाम से यह शब्द व्युत्पन्न हुआ है। "व्यंग्य" में भी विचित्रता का तत्व तो रहता ही है। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, शैक्षिक प्रभृति क्षेत्रों में व्याप्त विसंगतियाँ, विषमता, विद्रूपता और विकलांगता से व्यंग्य उद्भूत होता है। [44] बहुत से

लोग हास्य और व्यंग्य को एक ही खाते में डाल देते हैं, परंतु यह उचित नहीं है। यह सही है कि हास्य में व्यंग्य और व्यंग्य में हास्य निहित रहता है, परंतु प्रवृत्ति और प्रकृति की दृष्टि से ये नितान्त हैं। हास्य निर्दंश होता है। उसमें कटुता और तिक्तता नहीं होती, जबकि व्यंग्य में ये तीनों तत्व होते हैं। व्यंग्य का उद्देश्य ही व्यक्ति के मस्तिष्क पर चोट पैदा कर तिलमिलाहट पैदा करना है। हास्य का उद्देश्य मानसिक तनाव कम करना होता है, विपरीत इसके व्यंग्य का उद्देश्य मानसिक तनाव पैदा करके विद्रोह की भूमिका तैयार करना है। अंग्रेजी के विद्वान मैरीडिथ महोदय ने हास्य और व्यंग्य के अंतर को स्पष्ट करते हुए लिखा है —" इफ यू डिटेक्ट द रिडिकुल एण्ड योर फाउण्डलीज्ज इन थिन्ड थाय, यू आर लिसनिंग टू द प्लास्म आफ सैटायर." [45] अर्थात् यदि हम किसी हास्य के आलंबन का इतना मजाक उड़ाते हैं कि उसके प्रति हमारी दयालुता समाप्त हो जाती है, तो हास्य व्यंग्य की कोटि में सरक जाता है।

अतः कहा जा सकता है कि जहाँ उपन्यास में व्यंग्य की प्रवृत्ति आद्यन्त दृष्टिगोचर होगी, वहाँ उसे हम व्यंग्य उपन्यास की संज्ञा से संयुक्त कर सकते हैं। "राग दरबारी" (श्रीलाल शुक्ल), "नेताजी जब्ति" (मनोहरश्याम जोशी), "सबहिं नचावत राम गोसाईं" (भगवतीचरण वर्मा), "जंगलतंत्र" (अवधकुमार गोस्वामी), "क्या-कुर्य की नयी यात्रा" (हिमांशु श्रीवास्तव), "एक कुंए की मौत" (बदीउज्जमाँ), "दिल एक सादा कागज" (डा. राही मासूम रज़ा), डमरुतिया (नागार्जुन) आदि उपन्यासों को हम व्यंग्यात्मक उपन्यासों की कोटि में रख सकते हैं। [46]

(9) साठोत्तरी उपन्यास :

उक्त सभी औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ प्रवृत्ति-विशेष को ध्यान में रखकर चली हैं, परंतु यहाँ ऐसा नहीं है। 'साठोत्तरी

हिन्दी उपन्यास " में "साठोत्तरी " शब्द काल-विषयक विभावना को स्पष्ट करता है । अर्थात् इसमें उसमें उन उपन्यासों को लिया जा सकता है जो साठ (1960) के बाद लिखे गये हैं । परंतु यहाँ एक बात ध्यातव्य रहे कि साठ के बाद लिखे गये सभी उपन्यास "साठोत्तरी" संज्ञा से ज्ञापित नहीं होंगे । अतः साठ के बाद लिखे गये केवल उन उपन्यासों को "साठोत्तरी" संज्ञा प्राप्त होगी जिनमें साठोत्तरी -चेतना या साठोत्तरी मानसिकता प्राप्त होगी । वस्तुतः इन दिनों हमारा देश " मोहभंग " की स्थितियों से गुजर रहा था । स्वाधीनता-पूर्व जो सोचा गया था , ठीक उसके विपरीत हुआ । जीवन के सभी क्षेत्रों में भ्रष्टाचार और कदाचार फैल जाता है । राजनीति की "काली आंधी" जीवन के समाप्त अच्छे मूल्यों को लील लेती है । फलतः लेखक , कवि , कलाकार , चिंतक वर्ग के लोग मोहभंग की स्थिति से गुजरते हैं और उसका प्रभाव उनके कृतित्व पर भी पड़ता है । साहित्य तथा कला के क्षेत्र में व्यंग्यात्मकता का परिमाण पहले के किसी भी काल की अपेक्षा बढ़ जाता है । कलागत निरपेक्षता , आधुनिक भावबोध , वैयक्तिक चेतना , प्रतीकात्मकता , सांकेतिकता , नवीन भाषा-सौष्ठव जैसे अभिलक्षण साठोत्तरी उपन्यास में उपलब्ध होते हैं । इन उपन्यासों में "अँधेरे बन्द कमरे " , " न आनेवाला कल " (मोहन राकेश) ; "डाक बंगला " , "तीसरा आदमी " (कमलेश्वर) ; अनदेखे अनजान पुल" (राजेन्द्र यादव) ; " आपका बण्टी " (मन्नू भण्डारी) ; "मुक्तिबोध " (जैनेन्द्र) ; "अपने अपने अजनबी " (अज्ञेय) ; "रेखा " (भगवतीचरण वर्मा) ; " शहर में घूमता आईना " (उपेन्द्रनाथ अश्क) ; " आधा गाँव " (डा॰ राही मासूम रज़ा) ; "एक चूहे की मौत " (बदी उज्जमाँ) ; " राग दरबारी " (श्रीलाल शुक्ल) ; "तमस " (भीष्म साहनी) ; " अठारह सूरज के पौधे " (रमेश बक्षी) ; "गुदड़ी घर " (जगदम्बाप्रसाद दीक्षित) ; "वे दिन" (निर्मल वर्मा) ; " धरती धन न अपना " (जगदीशचन्द्र) ; "पचपन खंभे लाल दीवारें " (उषा प्रियंवदा) ; "रुकोगी नहीं

राधिका ? " (उषा प्रियंवदा) ; "सूरजमुखी अँधेरे के " (कृष्णा सोबती) ; "नदी फिर बह चली " (हिमांशु श्रीवास्तव) ; तथा "छाया मत छूना मन " (हिमांशु जोशी) आदि उपन्यासों को इसमें परिगणित कर सकते हैं । [47]

(10) समकालीन हिन्दी उपन्यास :

"समकालीन" अँग्रेजी के "कन्टेम्पोररी " का पर्याय है । इस प्रकार समकालीन का अर्थ होगा -- जिस समय में हम जी रहे हैं उससे सर्वाधिक निकट का समय । हिन्दी आलोचना में मोटे तौर पर सन् 1980-85 के बाद के समय को "समकालीनता" के अन्तर्गत रखा गया है । यह ध्यान रहे कि आज जिन्हें हम समकालीन कहते हैं हैं , 50-100 वर्षों के बाद वह समकालीन नहीं रहेगा । समकालीन उपन्यासों में यथार्थ की बहुआयामिता मिलती है । समकालीन उपन्यासकार जीवन की बहुआयामिता को प्रसार देने का कार्य कर रहे हैं । इसमें जीवन की कोई भी समस्या अछूती नहीं रह जाती है । आर्थिक दुष्टया जीवन की विषम परिस्थितियाँ , वैज्ञानीकरण , प्रयोगिकरण , तकनीकी विकास से उत्पन्न विभिन्न स्थितियाँ-समस्याएँ , पूँजीवादी अर्थतंत्र के भयावह और त्रासद परिणाम , नैतिक रूढ़ियाँ और मान्यताओं का विघटन , महानगरीय तथा औद्योगिक बस्तियों की समस्याएँ , भ्रष्ट राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था और उसे बदल डालने की पर बदल न सकने की बेचैनी , उग्रता तथा उकताहट , प्रेम तथा सेक्स का आत्मिक तथा निजी रिश्तों पर अर्थतंत्र के कारण बढ़ता दबाव , अर्थतंत्र के इस दबाव के कारण खंडित होते और दरकते-दरकते पारिवारिक संबंध , नौकरीपेशा नारी की समाज में बदलती हुई स्थिति , नौकरी और बेरोजगारी की समस्या , उनके कारण भाई-बहन , पति-पत्नी के संबंधों में कटता और दरार , नारी में आधुनिकता और पुरातनता का

द्वन्द्व , देश की दलगत राजनीति का सांगोपांग चित्रण , युवा आक्रोश , छात्रों में निरंतर बढ़ती अनुशासनहीनता , देश में शिक्षित बेरोजगारी की भयंकर समस्या , योग्यता तथा प्रतिभा की दारुण अवगणना , नौकरशाही का भ्रष्ट व्यवहार जैसी अनेक विविधवर्णी समस्याओं को समकालीन उपन्यासों में उकेरा गया है ।

इधर समकालीन उपन्यास-लेखन में लेखिकाओं के योगदान को नकारा नहीं जा सकता । महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में "जिन्दगीनामा" (कृष्णा सोबती) ; "महाभोज" (मन्नू भण्डारी); "तत्सम " , " निष्कवच" (राजी सेठ) ; "पाषाणी " (संजना कौल) ; " सात नदियाँ : एक समन्दर " , "जिन्दा मुहावरे " (नासिरा शर्मा) ; "मार्ड" " , "हमारा शहर उस समय " (गीतांजलिश्री); " इदन्नमम् " , "चाक" (मैत्रेयी पुष्पा) ; "कलियुग : बाया बायपास " (अलका सरावगी) ; "चित्तकोबरा" , "उसके हिस्से की धूप " (मृदुला गर्ग) ; "छिन्नमस्ता" , " आओ पेपे घर चलें " , अपने-अपने पेंडरे " (प्रभा खेतान) ; "नरक-दर-नरक" , (ममता कालिया) ; "टूटा हुआ इन्द्रधनुष" (मंजुल भगत) ; पतझड़ की आवाजें ", बँटता हुआ आदमी " (निरुपमा सेवती) ; "महानगर की मीता" (रमणी पनिकर) ; "ढहती दीवारें " (मीना दास) ; " दिनांत " (शीला रोहेकर) ; "टपरेवाले" (कृष्णा अग्निहोत्री) ; आदि उपन्यासों की गणना समकालीन उपन्यासों में होती है ।(48)

समकालीन लेखन में कुछ मुस्लिम लेखक-लेखिकाओं के योगदान को भी नकारा नहीं जा सकता । "आधा गाँव" , "टोपी शुक्ला" , "दिल एक सादा कागज" (डा. राही मासूम रज़ा) ; "काला जल" , " साँप और सीढ़ी" , "सात वर्षों के द्वीप " (शौकतअली खान) ; " झीनी-झीनी बिना चदरिया" , " मुखड़ा क्या देखा "

(अब्दुल बिस्मिल्लाह) ; दुआ बरगद " (मंजूर एहतेशाम) ; सात आसमान" (अलगर वजाहत) ; " एक चूहे की मौत" , " छाको की वापसी " (बदीउज्जमां) ; ठीकरे की मंगनी ", सात नदियाँ : एक समुद्र " (नासिरा शर्मा) ; "उसका घर " , " आँखों की दहलीज " (मेहरुन्निसा परवेज) ; आदि उपन्यासों की गणना भी समकालीन उपन्यासों में की जाती है । [49]

इनके अतिरिक्त "उत्तरकथा" (नरेश मेहता) ; " मैयादास की माड़ी" (भीष्म साहनी) ; दुखला सांड , " धाल गोदाम" (जगदीशचन्द्र) ; " अर्द्ध नारीश्वर " (विष्णु प्रभाकर) ; "अपने लोग " , " बिना दरवाजे का मकान " (डा. रामदरश मिश्र) ; "थातनाघर" (गिरिराज किशोर) ; "पाँच आँगनोंवाला घर " (गोविन्द मिश्र) ; "नरनारी" (कृष्ण बलदेव वैद) ; "सूरज सबका है " (विद्यासागर नौटियाल) ; " अमा गोर्या " (काशीनाथ सिंह) ; " चिड़िया सो देखेंगे " , " नीलकंठ की कमीज" (विनोदकुमार शुक्ल) ; "धार " , " सावधान नीचे आग है " (संजीव) ; "धपेल " (श्यामबिहारी श्यामल) ; हरिया हरक्यूलस की साइकल " (रमेशचन्द्र शाह) ; " पाटीधर " (कमलकान्त त्रिपाठी) ; " डूब " (वीरेन्द्र जैन) ; " मुझे चाँद चाहिए " (सुरेन्द्र वर्मा) आदि उपन्यासों की गणना भी समकालीन उपन्यासों के अन्तर्गत हो सकती है । [50]

नगरीकरण :

प्राचीन समय से ही मानव-जीवन की दो धाराएँ उपलब्ध होती हैं — ग्रामीण एवं नगरीय । प्राचीन समय में भारत में ही हस्तिनापुर, पाटलीपुत्र , उज्जैयनी , अवन्ति , वैशाली , नालंदा , वाराणसी आदि नगर उपलब्ध होते हैं । परन्तु इतना तो निश्चय ही कहा जा सकता है

कि प्राचीन समय में नगरों की संख्या कम थी । गाँवों की संख्या अधिक थी । यह बात जन-संख्या पर भी लागू होती है । ग्रामीण एवं नगरीय जीवन की जीवन-शैली तथा रीति-रिवाजों में भी अंतर पाया जाता है । ग्राम्य-जीवन प्रमुखतः कृषि एवं प्रकृति पर आधारित होता है ; जबकि नगरीय जीवन इससे दूर होता है । अतः कहा जा सकता है कि जहाँ मानव और प्रकृति के बीच अंतःक्रिया के रूप अधिक निकट , प्रत्यक्ष और गहन हैं , वह ग्राम है और जहाँ इन दोनों के बीच संबंध अप्रत्यक्ष और क्षीण हैं वह है नगर । ग्रामीण और नगरीय पर्यावरण में भी पर्याप्त अंतर पाया जाता है , जो दो भिन्न प्रकार के संबंध सामाजिक जीवन को जन्म देता है । यद्यपि कई बार ग्राम एवं नगर में भेद करना कठिन हो जाता है , क्योंकि इनकी कोई सर्वसामान्य परिभाषा नहीं है । आम तौर पर ग्राम एवं नगर के भेद को प्रकट करने के लिए जन-संख्या , पर्यावरण तथा सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों को आधार बनाया जाता है ।[51]

बद्रीनाथ ने ग्राम के दो मुख्य आधार माने हैं — एक , कृषि द्वारा आय तथा जीवन-यापन और दो , कम घनत्वमय जन-संख्या-क्षेत्र ।[52] स्पष्ट है कि नगर की विशेषता ठीक इसके विपरीत होगी । यह भी देखा गया है कि कालान्तर में ग्राम नगर के रूप में विकसित हो जाता है और नगर ग्रामीण क्षेत्र में बदल जाता है । अतः इनके बीच में कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं है । सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री ई. बी. वर्गेल इस संदर्भ में कहते हैं — " एवरीबडी नोज़ व्हाट सिटी इज़ बट नो वन हैज़ गिवन ए सतिसफेक्टरी डेफिनिशन. "[53] अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि नगर क्या है , किन्तु किसी ने भी उसकी संतोषजनक परिभाषा नहीं दी है ।

"नगर" शब्द अंग्रेजी के "सिटी " का हिन्दी अनुवाद है । स्वयं "सिटी" शब्द लैटिन भाषा के " civitas " से बना है , जिसका

HANSA MEHTA LIBRARY

तात्पर्य है नगरीयता । "नगरीकरण" शब्द "नगर से ही व्युत्पन्न हुआ है । सामान्य तौर पर नगरीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत नगरों के उद्भव , विकास , प्रसार एवं पुनर्गठन इत्यादि को लिया जाता है । जमशेदपुर , बोकारो , मुंबई आदि वर्तमान औद्योगिक-नगर औद्योगीकरण की ही देन है । जब किसी स्थान पर कोई एक विशाल उद्योग स्थापित हो जाता है , तो उस स्थान पर कार्य करने के लिए लोग जगह-जगह से उमड़ पड़ते हैं । धीरे-धीरे वह स्थान नगर के रूप में भव विकसित हो जाता है । भारत का सबसे बड़ा नगर मुंबई (बोम्बे) किसी जमाने में मछुआरों की बस्ती-मात्र था । प्रसिद्ध समाजशास्त्री गोल्ड तथा कोल्ब इस संदर्भ में लिखते हैं - "नागरिक जीवन संबंधी व्यवहार का ग्रामीण समुदाय पर प्रसार हो जाने का नाम ही नगरीकरण है । " [54] वर्गेल एक प्रसिद्ध समाजशास्त्री है , उन्होंने नगरीकरण के संदर्भ में कहा है कि ग्रामीण क्षेत्रों के नगरीय क्षेत्रों में परिवर्तित होने की प्रक्रिया को ही हमें नगरीकरण कहना चाहिए । [55]

दूसरे समाजशास्त्री मिचेल का भी कहना कुछ उसी प्रकार का ही है । मिचेल नगरीकरण को नगरीय बनने की प्रक्रिया मानते हैं, जिसमें लोग नगरों की ओर गमन करते हैं , कृषि को छोड़कर अन्य व्यवसायों को ग्रहण करते हैं और इसके साथ-साथ अपने व्यवहार प्रतिमानों में भी परिवर्तन लाते हैं । [56] नेल्सन एण्डरसन ने नगरीकरण के संबंध में निम्नलिखित अभिलक्षणों को निर्धारित किया है -- /1/ लोगों का ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी निवास के क्षेत्रों की ओर गति करना । /2/ कृषि के स्थान पर अन्य व्यवसायों को अपनाना । /3/ कई बार लोग बिना किसी नगर में गमन किये भी अपने विचारों एवं व्यवहारों में नगरीय हो सकते हैं । इस प्रकार नगरीकरण एक जीवन-पद्धति (life-style) है जिसका प्रसार नगर से बाहर की ओर होता है । [57]

यहाँ नगरीकरण के संदर्भ में विभिन्न समाजशास्त्रियों के जो अभिमत प्रकट किये गये हैं, उनके विश्लेषण से नगरीकरण की निम्नलिखित विशेषताओं को अंगीकृत कर सकते हैं :— /1/ नगरीकरण ग्रामों का नगरों में बदलना है । /2/ नगरीकरण में लोग कृषि को छोड़कर अन्य व्यवसाय करने लगते हैं । /3/ नगरीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें लोग गांव छोड़कर शहरों में निवास करते हैं, जिसके कारण शहरों का विकास होता है । /4/ नगरीकरण जीवन जीने की एक विधि है जिसका प्रसार शहरों से गांवों की ओर होता है । /5/ नगरीय जीवन जीने की विधि को नगरीयता या नगरवाद (Urbanization) कह सकते हैं । यह नगरवाद केवल नगरों तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि गांव में रहकर भी लोग नगरीय जीवन-विधि को अपना सकते हैं । /6/ इनके अतिरिक्त नगरीकरण के और भी कई छोटे-मोटे लक्षण हैं, जैसे — /क/ गांव के लोग नगरों को देखने जाते हैं और कुछ समय तक वहां निवास करते हैं । /ख/ शहर के लोग गांवों में जाते हैं और अपना प्रभाव वहां छोड़ आते हैं । /ग/ नगरों के का "प्रोडक्ट" का उपभोग गांववाले करने लगते हैं, जैसे दातून के स्थान पर पेस्ट इस्तेमाल करना । /घ/ गांव के लोग शहर के लोगों से प्रभावित होते हैं और उनकी नकल करने में गौरव का अनुभव करते हैं ।

भारत में नगरीकरण (Urbanization In India) :

आज विश्व के सभी देशों में नगरीकरण की प्रक्रिया बड़ी तीव्र है । विकासशील देशों में जनसंख्या का स्थानांतरण गांव से शहरों की ओर बहुत ज्यादा हुआ है । भारत में यद्यपि नगरीकरण की प्रक्रिया इतनी तेज नहीं है, तथापि पिछले कुछ दशकों में इसमें निरंतर बढ़ोत्तरी हो रही है, जिसे निम्नलिखित तालिका में निर्देशित किया गया है :

वर्ष	: नगरीय क्षेत्रों में जनसंख्या का प्रतिशत (%)	बढ़ोत्तरी या घटोत्तरी प्रतिशत- %
1901	10.84 %	—
1911	10.29 %	— 0.55
1921	~~10.8~~ 11.17 %	+ 0.88
1931	11.99~~12~~ %	~~*~~ +0.82
1941	13.85 %	+ 1.86
1951	17.29 %	+ 3.44
1961	17.97 %	+ 0.68 [58]
1971	19.09 %	+ 1.12
1981	25.31 %	+ 4.22 [59]

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि सन् 1921 के बाद शहरी-जनसंख्या में निरंतर वृद्धि होती रही है। सन् 1951 तथा सन् 1981 के दशक में नगरीकरण की प्रक्रिया अधिक क्षिप्र रही है। सन् 1981 की जनगणना के अनुसार देश में बारह ऐसे नगर थे, जिनकी जनसंख्या दस लाख से अधिक थी। वे नगर हैं — कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, मद्रास, बैंगलोर, हैदराबाद, अहमदाबाद, पूणे, नागपुर तथा जयपुर। सन् 1981 की जनगणना के अनुसार देश में 3949 नगर और 5,57,139 गाँव हैं। [60]

नगरीकरण के प्रभाव एवं समस्याएं :

नगरीकरण के कारण हमारे सामाजिक, नैतिक, वैचारिक जीवन-मूल्यों में प्रभूत मात्रा में बदलाव आता है। नगरों और महानगरों में जनसंख्या भी अधिक प्रगाढ़ होती है। जनसंख्या में वृद्धि

तथा गन्दी बस्तियों के कारण नगरीय-जीवन में अनेक समस्याएं पैदा होती हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने का यहां हमारा उपक्रम है।

(1) स्वास्थ्य एवं नगरीकरण :

नगरीकरण के कारण मनुष्य के शारीरिक स्वास्थ्य पर भी बुरा असर पड़ता है। शहरों में स्वच्छ पर्यावरण का अभाव होता है। लोगों और मकानों की भीड़-भाड़, वायु-प्रदूषण, गंदी-बहती नालियां, मीलों और कारखानों का धुआं, बसों मोटरों और वाहनों का धुआं, रोशनी तथा स्वच्छ हवा का अभाव, ध्वनि-प्रदूषण, विषाणु की अधिकता, संक्रामक रोगों की घातकता, घटदूषार एवं सिलनभरे कमरों के कारण शहरी लोगों का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता है। एक सर्वेक्षण के अनुसार 61 % लोगों ने मुंबई में आने के बाद बीमार रहने की शिकायत की; 5 % लोगों ने परिवारजनों की मृत्यु के लिए शहर में आने के बाद लगी बीमारी को उत्तरदायी ठहराया। कई लोगों ने अरुचि एवं भूख न लगने की शिकायत की।[61] नगरीकरण के कारण मानसिक स्वास्थ्य पर भी प्रभाव पड़ता है। लोग चिन्ता एवं अनिद्रा से परेशान रहते हैं। मधुमेह (डायाबिटीज), रक्तचाप (ब्लड-प्रेशर) तथा हृदय की बीमारियों का प्रभाव महानगरीय लोगों में अधिक पाया जाता है।

(2) परिवार, विवाह एवं नगरीकरण :

गांव में संयुक्त परिवार का प्राधान्य मिलता है तो नगरों में विभक्त परिवार का। नगरों में परिवार की व्याख्या सिमटती चली जा रही है और स्थिति एकल-परिवार तक पहुंच गयी है। ग्रामीण परिवेश में विवाह एक धार्मिक-संस्कार माना

जाता है और उसके लिए वर-वधू के चुनाव में माता-पिता तथा रिश्तेदारों का प्रमुख हाथ होता है। परन्तु शहरों में औद्योगीकरण, पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव, मकानों की कमी आदि के कारण संयुक्त परिवार विघटित हो रहा है और विवाह-विषयक विभावना में भी परिवर्तन आ रहा है। पहले व्यक्ति पर परिवार एवं समाज का नियंत्रण था, पर नगरों में व्यक्ति अधिक स्वतंत्र और स्वच्छंद हो रहा है। इस प्रकार नगरों में व्यक्तिवादी प्रवृत्ति जोर पकड़ रही है। पति-पत्नी के पारस्परिक संबंधों में भी परिवर्तन हुए हैं और नगरों में वे अब समझौतावादी होते जा रहे हैं। स्त्री की सामाजिक प्रतिष्ठा में बढ़ोतरी हुई है। वह पुरुष की अनुगामिनी मात्र न रहकर मित्र एवं सहयोगी बन रही है। स्त्री-पुरुष गैर-बराबरी पर जोर दिया जा रहा है और शिक्षा, राजनीति, सामाजिक एवं आर्थिक सभी क्षेत्रों में वह पुरुषों के समकक्ष खड़ी हो रही है। परिवार में वयोवृद्ध लोगों के प्रभाव में कमी आयी है और महत्वपूर्ण मामलों में अब उनकी राय नहीं ली जाती। नगरीय-जीवन में विवाह संस्था में भी काफी परिवर्तन आयेxxxxx आये हैं। विवाह अब समझौता-करार (कॉन्ट्राक्ट) बनता जा रहा है। फलतः कहीं-कहीं दाम्पत्य जीवन भी खंडित हो रहे हैं। स्त्री-पुरुष के अहं की टकराहट बढ़ रही है और इसके कारण भी कई नयी समस्याएँ जन्म ले रही हैं। इन समस्याओं को हम मोहन राकेश कृत " अँधेरे बन्द कमरे ", मन्नू भण्डारी कृत " आपका बण्टी " जैसे उपन्यासों में देख सकते हैं। स्त्री-पुरुषों के तलाकों की संख्या में बढ़ोतरी हो रही है। प्रेम-विवाह, अंतर्जातीय विवाह, अंतरप्रान्तीय तथा अंतर-देशीय विवाह और कोर्ट-मैरिज आदि की संख्या भी बढ़ रही है। फलतः नगरीय जीवन में अनेक परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

§3§
जातिप्रथा एवं नगरीकरण :

नगरों में जाति-प्रथा शिथिल हो रही है । जातिप्रथा को लेकर यहां गांवों की तरह कट्टरता एवं कठोरता नहीं पायी जाती । जाति की कई विशेषताओं का यहां भेद उड़ गया है, जैसे - खानपान, ऊंच-नीच, विवाह इत्यादि । गांव में एक जाति के लोग एक ही प्रकार के व्यवसाय में पाए जाते हैं, किन्तु शहरों में ऐसा नहीं है । यहां एक जाति के लोग अनेक प्रकार के व्यवसायों में मिलते हैं तथा एक व्यवसाय में अनेक जातियों के लोग पाए जाते हैं । शहरों में छुआछूत की भावना का भी अभाव पाया जाता है । शहरों में अलग-अलग जाति के लोग एक साथ होटलों, रेस्टोरां तथा क्लबों में भोजन ग्रहण करते हैं । यहां व्यक्ति की सामाजिक स्थिति उसकी जाति द्वारा नहीं पर उसके व्यक्तिगत गुणों और जीवन-शैली द्वारा तय होती है । नगरों में जातिगत संस्तरण § छायार्की § के स्थान पर आर्थिक संस्तरण या वर्गगत संस्तरण पाया जाता है । [62]

§4§ अपराध-वृत्ति एवं नगरीकरण :

ग्रामीण परिवेश की तुलना में नगरीय-परिवेश में अपराध-वृत्ति अधिक पायी जाती है । परिवार, धर्म, पड़ोस, रक्त-संबंध तथा जाति आदि के नियंत्रण में शिथिलता के कारण नगरों में अपराध-भावना अधिक मिलती है । शहर में व्यक्ति अपरिचित एवं अकेलापन-सा रहता है, जिसके कारण अपराध की पृष्ठभूमि तैयार होती है । चोरी, डकैती, बैंकों को लूटना, जेब काटना, धोखा-धड़ी, लड़कियों तथा बच्चों को अगुआ कराना जैसी आपराधिक घटनाएं शहरों में अधिक परिमाण में पायी जाती है । हिमांशु श्रीवास्तव कृत " नदी फिर बह चली ", मीना दास कृत "हंसती

दीवारें " , निरुपमा सेवती कृत " पतझड़ की आवाजें " , शिवांशु जोशी कृत " छाया मत छूना मन " जैसे उपन्यासों में हमें इस तथ्य के प्रमाण प्रचुर मात्रा में मिल जाते हैं ।

मनोरंजन× [5] मनोरंजन एवं नगरीकरण :

नगरों में मनोरंजन की सुविधाएं अधिक होती हैं , परंतु यहां भी मनोरंजन का व्यवसायीकरण या व्यापारीकरण हो गया है । गांव में खेल-कूद , भजन , गायन आदि मनोरंजन के जो स्वरूप हैं वे निःशुल्क होते थे और सुगमता और सरलता से उपलब्ध होते थे । किन्तु शहरों में सिनेमा , खेल-कूद , पार्क आदि के लिए पैसा खर्च करना पड़ता है । यद्यपि सिनेमा , टी.वी. आदि के दुष्प्रभावों से अब गांव भी अछूते नहीं हैं , तथापि परिमाण की दृष्टि से गांव कम प्रदूषित हुए हैं । शिवांशु जोशी कृत " छाया मत छूना मन " उपन्यास में इन दुष्प्रभावों को रेखांकित किया गया है ।

[6] व्यक्तिवाद एवं नगरीकरण :

नगरों में व्यक्तिवाद की भावना अधिक प्रबल होती है । गांव का मुख्य व्यवसाय कृषि है और कृषि-कार्य एक अकेले व्यक्ति के बूते की बात नहीं है । अतः वहां प्रायः संयुक्त-परिवार की प्रथा प्रचलित है । वैयक्तिक जीवन की अपेक्षा गांव में प्रायः सामूहिकता का जीवन देखा जाता है । शहरों में श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण की प्रवृत्ति के कारण व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा स्वयं की चिन्ता अधिक करता है । नगर का व्यक्ति आत्म-केन्द्री एवं स्वतंत्र हो जाता है । शहरी लोगों के रक्त-संबंध प्रायः शीत-संबंध हो जाते हैं । रक्त-सु संबंध की तुलना में वहां द्वितीयक कोटि के संबंध अधिक

महत्वपूर्ण हो जाते हैं । अतः नगरों में प्रायः प्रेम, सौहार्द एवं आत्मीयता का अभाव-सा दिखता है । व्यक्ति का मूल्यांकन धन एवं गुणों के आधार पर होता है, जातिगत आधार पर नहीं । अतः जो लोग गांवों से नगरों में संक्रमित होते हैं उनमें शनैः शनैः यह व्यक्तिवाद बढ़ने लगता है ।[63] हिमांशु श्रीवास्तव कृत " नदी फिर बह चली " में इन तथ्यों को रेखांकित किया जा सकता है ।

(7) सामाजिक विघटन एवं नगरीकरण :

व्यक्तिवादिता के कारण नगरों में सामाजिक नियंत्रण शिथिल शिथिल हो जाते हैं । परिवार, ईश्वर, रक्त-संबंध एवं जाति के नियंत्रण के अभाव में सामाजिक आपराधिक वृत्तियाँ अधिक पनपती हैं । शहरों में परिवर्तन भी अधिक शिघ्रगामी होते हैं । फलतः परंपराओं और रीति-रिवाजों के प्रति शहरों में अधिक लगाव नहीं पाया जाता । सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष के कारण शहरों में सामाजिक विघटन की प्रक्रिया तेज हो जाती है । फलतः वेश्यावृत्ति, गरीबी, बाल-अपराध, तलाक जैसी समस्याएं पैदा होती हैं । तोड़-फोड़, हड़ताल, दंगे-फसाद, नारेबाजी जैसी प्रवृत्तियाँ शहरों में आमतौर पर पायी जाती है ।[64]

(8) प्रकृति से पृथकीकरण :

ग्रामीण लोगों का जीवन प्रकृति से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ होता है, जबकि नगरीय जीवन प्रकृति से दूर तथा कृत्रिमता से भरा हुआ होता है । मिलों एवं कारखानों की गड़गड़ाहट, धुआं, मोटरों की भों-भों आदि शांति को भंग करती हैं । ध्वनि-प्रदूषण महानगरीय जीवन की एक विकट समस्या है । इसके कारण स्ट्रेस तथा रक्तचाप की

बीमारियाँ शहरों में अधिक पायी जाती हैं । प्रकृति से दूर होने के कारण सरलता के स्थान पर नगरों में कुटिलता का व्यवहार अधिक देखने को मिलता है ।[65]

§9§ आवास की समस्या :

शहरों में मकान की समस्या ने भयंकर रूप धारण कर लिया है । नगरीकरण की प्रक्रिया क्रमशः तीव्र हो रही है । प्रतिवर्ष लाखों लोग शहरों की ओर भाग रहे हैं । अतः शहरों में गंदी बस्तियों और झोंपड़पट्टियों में निरंतर वृद्धि हो रही है । मुंबई की माहिम और धारावी की झोंपड़पट्टी विख्यात§कुख्यात§ है । जगदंबाप्रसाद कृत "मुर्दाघर" तथा मंगल भगत कृत " अंगारे" में इन झोंपड़पट्टियों के जीवन को यथार्थतः चित्रित किया गया है । समृद्ध और पोश बिल्डरों को छोड़कर नगरों में आबादी बहुत घनी होती है । वहाँ हवा और रोशनीदार मकानों का अभाव होता है । कहीं-कहीं एक-एक कमरे में दस-दस , पन्द्रह-पन्द्रह लोग रहते हैं । इन मकानों में आरोग्य की कोई सुविधा नहीं होती है । पाखानों तथा पेशाब-घरों का अभाव होता है । इस प्रकार ये शहरी मकान बीमारियों के घर होते हैं । कई मकान या ~~कोठ~~ कोठियाँ तो ऐसे होते हैं कि जिनमें दिन में भी बिजली की आवश्यकता रहती है । मकानों के अभाव के कारण पारिवारिक जीवन में कई बार "प्राइवेसी" खत्म हो जाती है । फलतः छोटे-कोमल मस्तिष्कों पर कई बार गलत संस्कार पड़ते हैं , जिसके कारण अनेक समस्याएँ पैदा होती हैं । मकान के अभाव के कारण मध्यवर्गीय नौकरीपेशा लोग कई बार एक ही मकान या कमरा साझेदारी में लेते हैं । फलतः उनका जीवन ही साझेदारी का जीवन हो जाता है । अपना अंगत या व्यक्तिगत कुछ नहीं रहता । कमलेश्वर कृत " तीसरा आदमी " उपन्यास में

इस समस्या के कारण नायक-नायिका के दाम्पत्य-जीवन में दरारें पड़ने लगती हैं ।

§10§ कृत्रिमता :

शहरी जीवन में व्यक्ति कृत्रिमता को ओढ़े रहता है । बाहरी दिखावा दिखाने में उसकी आमदनी का बड़ा हिस्सा व्यय हो जाता है । यहाँ के पहिनावे और प्रसाधन में ही नहीं आचरण में भी अस्वाभाविकता स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है । परस्पर मिलने पर कृत्रिम अभिवादन तो मिलते हैं , लेकिन भीतर से व्यक्ति भुनभुनाता रहता है । इस प्रकार नगरीय व्यक्ति संपन्न और सुशील दिखाई देता है , किन्तु वास्तविकता कुछ और होती है । यहाँ पारिवारिक संबंधों में उष्मता का अभाव सर्वत्र रहता है ।

नगरीकरण के अन्य प्रभाव :

§क§ नगरीकरण के कारण धर्म का प्रभाव दिनोंदिन घट रहा है । नास्तिकता के बढ़ने से व्यक्ति में स्वच्छंदी वृत्तियाँ पनपती हैं , जो अपराध एवं असामाजिकता को जन्म देती हैं ।

§ख§ नगरों में भिक्षावृत्ति अधिक होती है । यह भिक्षावृत्ति नगरों में व्याप्त गरीबी की सूचक है ।

§ग§ नगरों में मानसिक तनाव और संघर्ष अधिक होता है । इसके कारण व्यक्ति को नींद की गोलियाँ लेनी पड़ती हैं ।

§घ§ वेश्यावृत्ति एवं यौन-जन्य अपराधों में आधिक्य पाया जाता है ।

§च§ नगरों में बढ़ती आबादी के कारण शिक्षा , सुरक्षा , स्वास्थ्य आदि की अनेक समस्याएँ पैदा हो रही हैं।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि नगरीय जीवन के कारण मानव-मूल्यों एवं आस्थाओं में परिवर्तन हुए हैं । सामाजिक एवं पारिवारिक संबंधों में जटिलता बढ़ी है । नगरीय जीवन ने अधिक समस्याओं को पैदा किया है ।

औद्योगिकरण एवं नगरीकरण :

औद्योगिकरण एवं नगरीकरण परस्परावलंबित एवं सहगामी प्रक्रियाएं हैं । यह एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । किसी स्थान पर उद्योग-धंधों की स्थापना होने से वह स्थान धीरे-धीरे नगर का रूप ले लेता है । मुंबई, जमशेदपुर, राउरकेला आदि इसके उदाहरण हैं । समाजवैज्ञानिक डेविस का मत है कि भारत में औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के बीच घनिष्ठ संबंध पाया जाता है । [66]

उद्योगों की स्थापना के लिए अनेक प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए । इनमें यातायात के साधन, पूंजी एवं बैन्क की सुविधा, पानी एवं बिजली की उपलब्धि आदि को सम्मिलित किया जा सकता है । जहां ये सुविधाएं होती हैं, वहां बड़े-बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठान कल-कारखाने डालते हैं । नये-नये औद्योगिक प्रतिष्ठान स्थापित होते हैं शनैः । शनैः शनैः नगर महानगर की शक्ल अख्तियार करने लगता है । मुंबई, सूरत, बड़ौदा, अहमदाबाद, कानपुर, बैंगलोर आदि शहरों में उपलब्ध सुविधाओं के कारण वहां जनसंख्या घनीभूत हो रही है । इस प्रकार नगरों की स्थापना भी नगरों को जन्म देती है । जहां उद्योग-कारखाने लगा दिये जाते हैं, वहां हजारों की संख्या में मजदूर एवं अफसर तथा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले लोग बसने लगते हैं । टाटानगर, राउरकेला आदि नगरों का विकास इसी तरह से हुआ है । प्रारंभ में ये स्थान छोटी बस्तियों या जंगलों के रूप में थे । कारखानों के बाद वे देश के प्रमुख औद्योगिक नगरों की

श्रेणी में आ गए हैं । इस प्रकार देश में नगरीय जनसंख्या के कारण नगरीकरण की प्रक्रिया में वृद्धि हुई है ।

औद्योगिकरण के सामाजिक प्रभाव (Social effects of Industrialisation) :

औद्योगिकरण के कारण मानव-जीवन में अनेक परिवर्तन आ गए हैं । मानव-धारणाओं और मूल्यों में परिवर्तन आया है । समाज-वैज्ञानिक वर्ग का अभिमत है कि औद्योगिक-क्रान्ति के कारण मानव-इतिहास में बहुत परिवर्तन आये हैं । मनुष्य ने प्राथमिक, सामाजिक जीवन-पद्धतियों की जड़ों को खोद डाला है । औद्योगिकरण के कारण प्रमुखतया निम्नलिखित सामाजिक प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं :-

(क) सामुदायिक भावना का अभाव :

ग्रामवासियों में "हम" की भावना पायी जाती है । वे परिवार, रक्तसंबंध, समुदाय, स्थान-विशेष, बड़े-बूढ़ों का लिहाज जैसे कारणों परस्पर घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए रहते हैं । वे पारस्परिक सुख-दुःख में एक-दूसरे का हाथ बंटाते हैं, परन्तु औद्योगीकरण के कारण अब इस भावना में शिथिलता आने लगी है । व्यक्तिवादी चेतना जोर पकड़ रही है । सामूहिक-भावना क्षीण हो रही है । "गोदान के पंच", "नदी फिर बह चली" (शिवांशु श्रीवास्तव) ; "सांप और सीढ़ी" (ज्ञानी) जैसे उपन्यासों में इस तथ्य को चित्रित किया जा सकता है ।

(ख) सामाजिक नियंत्रण का अभाव :

औद्योगिकरण के कारण जाने-अनजाने मनुष्य अपनी जड़ों (roots) से कट रहा है । ग्रामीण जीवन में व्यक्ति पर परिवार, प्रथाओं, जाति, पंचायत, ग्राम-पंचायत, रिश्तेदार, धर्म आदि का नियंत्रण होता था । परंतु औद्योगीकरण के कारण यह सब दूर होता जा

रहा है । नियंत्रण के औपचारिक तरीकों जैसे कानून , न्यायालय , सरकार आदि का सहारा लिया जाने लगा है । नियंत्रण के उन प्राथमिक तरीकों में जो शक्ति थी , वह इन औपचारिक , कृत्रिम , द्वितीयक प्रकार के तरीकों में नहीं है । फलतः औद्योगीकरण के कारण स्वच्छंदता और अनुत्तरदायित्व बढ़ रहा है । प्रेमचन्द के उपन्यास "रंगभूमि" में सूरदास सिगरेट के कारखाने का जो विरोध करता है , उसके पीछे यही सब कारण बताए गए हैं ।

(ग) व्यक्तिवाद का प्रसार :

औद्योगीकरण के कारण व्यक्तिवादी प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है । उससे संयुक्त परिवार की प्रथा को भी हानि बहुतायत पहुंचती है । आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवादी चेतना के कारण एकाधिकारवाद , गलाकाट स्पर्धा तथा पूंजीवाद का जन्म होता है । व्यक्तिवादी चेतना व्यक्ति की स्वतंत्रता पर जोर देती है । अतः वह सरकार और राज्य के हस्तक्षेप का भी नापसंद करती है । परन्तु नियंत्रण के अभाव में तो व्यक्ति में बुराइयां पनपेंगी । यह एक बहुत बड़ा खतरा है ।

(घ) सांस्कृतिक संपर्क में वृद्धि :

औद्योगीकरण के कारण यातायात एवं संदेशवाहक साधनों का विकास हुआ । नवीन साधनों , विशेषतः इलेक्ट्रोनिक-मीडिया के कारण विभिन्न सभ्यता और संस्कृति के लोग एक-दूसरे के निकट आये और उनमें पारस्परिक (म्युच्युअल अण्डरस्टेण्डिंग) विकसित हुई । पारस्परिक आदान-प्रदान की प्रवृत्ति को भी बढ़ावा मिला । इन्हीं कारणों से औद्योगिक-केन्द्रों से विकसित नगरों में संस्कृति और सभ्यता के विभिन्न आयाम घुले-मिले देखे जाते हैं । अतः सांस्कृतिक अवमनस्य का वातावरण दृष्टिगोचर होता है ।

(ग) जातिप्रथा में शिथिलता या परिवर्तन :

किसी नगर के औद्योगिक केन्द्र बन जाने से वहाँ विभिन्न प्रदेशों से, विभिन्न जातियों के लोग व्यवसाय के लिए आते हैं। वे लोग अपने-अपने सगे-संबंधियों और जाति-रिश्तेदारी के लोगों को छोड़कर आते हैं। अब मनुष्य सामाजिक प्राणी है। अकेले-अकेले तो वह जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। फलतः विभिन्न जाति के लोगों में मेल-जोल बढ़ता है। छुआछूत की प्रवृत्ति कम होती है। विभिन्न जातियों के लोग सहभोज में भी भाग लेते हैं। फलतः उनमें निकटता बढ़ती है। उनमें ऊँच-नीच का भाव कम हो जाता है। औद्योगीकरण के कारण जातिगत पेशों में भी बदलाव आया। पहले लोग अपने जाति-गत व्यवसाय को करने के लिए बाध्य थे। नगरों में इस प्रकार की बाध्यता नहीं रही। अपनी शक्ति, प्रतिभा, गुण, साधन आदि के आधार पर कोई भी व्यक्ति अपना मनचाहा व्यवसाय चुन सकता है। इस प्रकार जाति-प्रथा के शिथिल होने कारण अंतर्जातीय विवाह बढ़ने लगते हैं। रेल, मोटर, वायुयान, होटल, रेस्तोरां आदि के कारण विभिन्न जातियों के लोग एक-दूसरे के संपर्क में आते हैं और उसके कारण जातिगत कट्टरता शनैः शनैः कम होने लगती है। रूढ़ि-वादिता और अंध-विश्वास के स्थान पर तर्क और बुद्धि से काम लिया जाता है। यातायात की सुविधाओं के कारण अब अधिक से अधिक लोग शहरों में गमन करते हैं और जब वे शहरों में जाते हैं तब जातिप्रथा में थोड़ी-बहुत शिथिलता तो आ ही जाती है। कई लोग दूसरे प्रदेश के शहरों में जाकर अपनी जाति तक बदल लेते हैं। पहले जाति बदलना असंभव था। कानूनी अधिकारों के कारण अब कोई भी व्यक्ति अपनी जाति बदल सकता है। इससे भी जातिगत प्रथा को धक्का पहुँचा है।

(छ) सामाजिक-विघटन और अपराध-भावना में वृद्धि :

औद्योगीकरण के कारण समाज में विघटन की प्रवृत्ति तीव्रतर हुई है । पहले व्यक्ति पर माँ-बाप , बड़े-बुजुर्ग , गाँव और जाति-बिरादरी के लोगों का नियंत्रण रहता था । औद्योगीकरण के कारण व्यक्तिवाद को बढ़ावा मिला । इस व्यक्तिवाद ने सामाजिक विघटन की प्रक्रिया को तेज कर दिया । फलतः समाज में विरोधी कार्यों और अपराधों में वृद्धि हुई । सामाजिक नियंत्रणों की अवहेलना निरंतर बढ़ रही है । परिणामस्वरूप वेश्यावृत्ति , शराबखोरी , बाल-अपराध , हत्या , आत्महत्या , गबन , चोरी , डकैती जैसी आपराधिक वृत्तियाँ निरंतर बढ़ रही हैं । इस प्रकार औद्योगीकरण द्वारा निर्मित महानगरों को इन अपराधों के केन्द्र कह सकते हैं । एमिल दुर्खाइम के मतानुसार आधुनिक समाज के अंतर्गत इस सामाजिक विघटन के परिणामतः दो तथ्य पाते हैं : प्रथम - अशान्त व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि होती है । द्वितीय - समूह का संगठन निम्न स्तर का होने लगता है । निर्मित किये जाने पर विभिन्न समूह अन्य समूहों से पूर्ण हार्दिक सहयोग करने के इच्छुक नहीं होते । [67]

(ज) धर्म के प्रभाव में कमी :

ग्रामीण-जीवन में धर्म व्यक्ति के व्यवहार पर नियंत्रण रखता है । स्वर्ग , नरक , पाप-पुण्य , पुनर्जन्म , कर्म एवं ईश्वर की धारणा में विश्वास के कारण व्यक्ति का जीवन थोड़ा संयत रहता है । अध्यात्मवाद व्यक्ति को मानसिक शांति प्रदान करता है । औद्योगीकरण ने शहरों को नवीन शिक्षा प्रणाली दी , जो तर्क और वैज्ञानिकता पर जोर देती है । मानव ने ईश्वर की अलौकिक सत्ता को चुनौती दी

कुछ लोग कहने लगे — "मैन इज़ द फादर आफ गाड" । फलतः नास्तिकता उत्पन्न होने से धर्म का प्रभाव कम होने लगा । लोग शारीरिक सुख को ही सबकुछ मानने लगे । इस प्रकार उनके विचार भौतिक एवं वस्तुपरक होने लगे । परिणामतः मानसिक असंतोष में वृद्धि हुई । शहरों में लोग ईश्वर की अपेक्षा अपने कार्य एवं मशीन पर विश्वास करते हैं । इन सब कारणों से जहाँ धार्मिक संकीर्णता कम हुई है, वहाँ धार्मिकता और आध्यात्मिकता का छेद उड़ जाने से मानसिक असंतोष और तनाव में वृद्धि हुई है ।

(ग) परिवार पर प्रभाव :

औद्योगीकरण ने पारिवारिक जीवन को छिन्न-भिन्न कर दिया है । संयुक्त परिवारों का स्थान विभक्त परिवार ले रहे हैं । स्थिति अब एकल परिवार तक पहुँची है । परिवार में वयोवृद्ध व्यक्तियों का कोई नियंत्रण नहीं रहा । कहीं-कहीं तो ऐसी ऐसी स्थिति का निर्माण कि दो भाइयों के बीच में माँ-बाप को विभाजित किया गया । परिवार में स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन आया । औद्योगिक नगरों में स्त्रियाँ धनोपार्जन करने लगीं । फलतः उनके पारिवारिक-सामाजिक अधिकारों में भी वृद्धि हुई, पर कहीं-कहीं दोहरे उत्तरदायित्व के कारण स्त्रियों में भी मानसिक तनाव की स्थिति पायी जाती है । विवाह-संस्था में भी अनेक परिवर्तन हुए । प्रेम-विवाह, अंतरजातीय -विवाह, अंतरक्षेत्रीय-विवाह होने लगे हैं । तलाक में वृद्धि हुई है । बाल-विवाह की संख्या कम हो रही है । अब विवाह भी अधिक आयु में होने लगे हैं । कई बार तो कुछ लोग 30-35 साल की उम्र में शादी करते हैं । विवाह में धार्मिक विधियाँ में कमी आने लगी है । विवाह समझौते का रूप धारण करने लगा है । महानगरों में अब अनुबंध-विवाह (कोन्ट्राक्ट-मैरिज)

होने लगे हैं ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने महानगरीय जीवन की जटिलता को अनेक गुना बढ़ा दिया है । महानगर में जहाँ कुछ लाभ है, वहाँ नुकसान भी कम नहीं है । महानगरों के निर्माण के कारण लोगों की जीवन-पद्धतियों में भी बदलाव आया है । इससे कुछ नवीन समस्याओं का जन्म भी हुआ है ।

निष्कर्ष :

(1) उपन्यास इस नये युग के नये मनुष्य की विधा है । सामंतवादी मूल्यों का ह्रास और पूँजीवादी व्यवस्था के संधिकाल में उसका उद्भव हुआ ।

(2) उपन्यास का विकास सर्वप्रथम योरोप में हुआ । उपन्यास का कुछ आभास बोकासियो (इटली) कृत "डेकामेरोन" में परिलक्षित होता है । उसके बाद स्पेनिश लेखक सर्वान्तीस की विश्वविख्यात कृति "डॉन किहोते" का आविर्भाव होता है । परंतु योरोप में उपन्यास का निर्भ्रान्त रूप डेनियल डिफो के "रोबिन्सन क्रूसो" में मिलता है । डेनियल डिफो के अतिरिक्त रिचार्डसन, फील्डिंग, स्मालेट और स्टर्न आदि लेखक इस प्रथम दौर के उपन्यासकार हैं ।

(3) अठारहवीं शताब्दी के बाद अंग्रेजी उपन्यास में एक नया मोड़ आता है । इस नये मोड़ के औपन्यासिक हैं — जेन आस्टिन और वाल्टर स्काट ।

(4) स्काट के उपरांत उन्नीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य उपन्यासकारों में थैकरे, डिकिन्स, मेरेडिथ, टामस हार्डी, विक्टर ह्यूगो, फ्लाबेयर, गोगोल, बाल्जाक, तुर्गनेव, टालस्टोय, दोस्तोयेवस्की आदि विश्वविख्यात उपन्यासकार आते हैं ।

(5) बीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य उपन्यासकारों में एच.जी. वेल्स, डी.एच. लारेन्स, वर्जिनिया वुल्फ, मार्सेल प्रूस्त, जेम्स जायस, आल्डुस हक्सले आदि लेखकों की परिगणना होती है।

(6) हिन्दी उपन्यास का विकास उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से हुआ। पं. श्रद्धाराम फुल्लौरी कृत "भाग्यवती" हिन्दी का प्रथम उपन्यास माना जाता है। यद्यपि कुछ विद्वान "परीक्षागुरु" को हिन्दी का प्रथम उपन्यास मानते हैं।

(7) हिन्दी उपन्यास का विकास प्रेमचन्द्रपूर्वकाल (1877-1918), प्रेमचन्दकाल (1918-1936) तथा प्रेमचन्दोत्तरकाल (1936-आजतक) यों तीन सोपानों में देखा जा सकता है। किन्तु इतना तो अनिर्दिष्टतया कहा जा सकता है कि हिन्दी उपन्यास को उसका वास्तविक गौरव प्रेमचन्द द्वारा प्राप्त हुआ है।

(8) प्रेमचन्दोत्तरकाल में हमें सामाजिक उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास, समाजवादी उपन्यास, आंचलिक उपन्यास, पौराणिक उपन्यास, राजनीतिक उपन्यास, व्यंग्यात्मक उपन्यास, साठोत्तरी उपन्यास और समकालीन उपन्यास आदि औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। इनमें अंतिम दो में काल-विषयक विभावना का आधार है।

(9) भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया बीसवीं शताब्दी से तेज हो जाती है। सन् 1921 के बाद नगरों में जनसंख्या निरंतर बढ़ती गई है।

(10) नगरीकरण ने स्वास्थ्य, परिवार, विवाह-संस्था, जातिप्रथा, अपराध-वृत्ति, मनोरंजन-पद्धतियाँ, जीवन-पद्धतियाँ आदि को प्रभावित किया है।

§11§ नगरीकरण के कारण व्यक्तिवाद को बढ़ावा मिलता है । उसके कारण सामाजिक-विघटन की प्रक्रिया शुरू हो जाती है ।

§12§ नगरीय व्यक्ति प्रकृति से कटता जाता है । आवास की समस्या भी उसकी एक विकट समस्या है । नगरीय जीवन में कृत्रिमता दृष्टिगत होती है ।

§13§ नगरीकरण ने मनुष्य के जीवन को कई दृष्टियों से प्रभावित किया है । ये प्रभाव अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के हैं ।

§14§ नगरीकरण के कारण औद्योगीकरण में भी वृद्धि हुई है । इन दोनों प्रवृत्तियों के कारण मानव-जीवन में जटिलता का प्रवेश हुआ है । परंपरागत जीवन-मूल्यों में बदलाव आया है । सामाजिक ढांचे में आमूलचूल परिवर्तन हुए हैं ।

=== XXXX ====

:: सन्दर्भानुक्रम ::

§1§ द नोवेल एण्ड द पिपल : राल्फ फाक्स : पृ. 83 ।

§2§ द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : डा. भारतभूषण अग्रवाल : पृ. 26 ।

§3§ सी : द नोवेल एण्ड द पिपल : राल्फ फाक्स : पृ. 74 ।

§4§ सी : द राइज़ आफ द नोवेल : इयान वाट : पृ. 14-15 ।

§5§ द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : डा. भारतभूषण अग्रवाल : पृ. 27 ।

§6§ हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ. 28 ।

§7§ वही : पृ. 28 ।

§8§ द नोवेल एण्ड द पिपल : पृ. 95 ।

§9§ इबिड § वही § : पृ. 94 ।

§10§ हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ. 29 ।

§11§ द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : डा. भारत-भूषण अग्रवाल : पृ. 29 ।

§12§ हिन्दी उपन्यास : संवाहिका : डा. कुसुम प्रियदर्शिनी : पृ. 120 ।

§13§ द्रष्टव्य : भारतीय नवलकथा §गुजराती§ : डा. रमणलाल जोशी : पृ. 4-8 ।

§14§ द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास : डा. शिवनारायण श्रीवास्तव : पृ. 61 ।

§15§ द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास : सं. डा. कुसुम प्रियदर्शिनी: पृ.122

§16§ द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास : सं. वही : पृ. 125 ।

§17§ द्रष्टव्य : हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास : डा. गजपतिचन्द्र गुप्त ; हिन्दी उपन्यास का उद्भव और विकास : डा. सुरेश सिन्हा तथा हिन्दी उपन्यास साहित्य की विकास-परंपरा में साठोत्तरी उपन्यास : डा. पारुकान्त देसाई ।

§18§द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ.24 ।

§19§ द्रष्टव्य : काव्य के रूप : डा. गुलाबराय : पृ. 181 ।

§20§ द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास : सं. डा. कु.प्रि. : पृ. 146 ।

§21§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 147 ।

§22§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 147 ।

§23§ प्रेमचन्द और उनका युग : डा. रामविलास शर्मा : पृ. 31 ।

§24§ कलम का सिपाही : अमृतराय : पृ. 53 ।

§25§ प्रेमचन्द : एक कृती व्यक्तित्व " : जैनेन्द्र : पृ. 21 ।

§26§ अभी हाल में ही 23 दिसम्बर 1998 में उनका निधन हुआ ।

§27§ प्रेमचन्द और उनकी उपन्यास कला : डा. रघुवरदयाल वार्ष्णेय : पृ. 16 ।

§28§ द्रष्टव्य : कलम का सिपाही : पृ. 175 ।

§29§ लेख - " सहस्राब्दि के द्वार पर : डा. पंकज बिष्ट : हंस : उपन्यास-विशेषांक-जनवरी-1999: पृ.5 ।

§30§ युग निर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध : डा. पारुकान्त देसाई : पृ. 12 ।

§31§ लाईफ एण्ड वर्क्स आफ प्रेमचन्द : डा. मनोहर बंदोपाध्याय : पृ. 34-35 ।

§32§ हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : डा. एस.एन. गणेशन : पृ. 68 ।

§33§ वही : पृ. 69-70 ।

§34§ आज का हिन्दी उपन्यास : डा. इन्द्रनाथ मदान : पृ. 9-10 ।

§35§ युग निर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध : पृ. 24 ।

§36§ गोदान : प्रेमचन्द : पृ. 57 ।

§37§ कुछ विचार : प्रेमचन्द : पृ. 46 ।

§38§ द्रष्टव्य : समीक्षायण : डा. पारुकान्त देसाई : पृ. 121 ।

§39§ विस्तार के लिए देखिए : डा. भगवतीशरण मिश्र का उपन्यास साहित्य : शोध-प्रबंध : डा. इला मिस्त्री ।

§40§ द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास : सं. भीष्म साहनी : पृ. 523-30 ।

§41§ द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास : सं. डा. सुधा प्रियदर्शिनी : पृ. 164

§42§ द्रष्टव्य : हंस : उपन्यास विशेषांक- 1999 ।

§43§ विस्तार के लिए देखिए : हिन्दी उपन्यासों में राजनीतिक चेतना -: शोध-प्रबंध : डा. वामन अहिरे ।

§44§ द्रष्टव्य : कबिरा खड़ा बाजार में : डा. पारुकान्त देसाई : भूमिका से ।

§45§ द आइडिया आफ कॉमेडी : मेरीडिथ : पृ. 391 ।

§46§ विस्तार के लिए देखिए : साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में व्यंग्य : डा. किशोरसिंह बारोट ।

§47§ विस्तार के लिए देखिए : साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : डा. पारुकान्त देसाई ।

§48§ द्रष्टव्य : आधुनिक लेखिकाओं के नगरीय परिवेश के उपन्यास डा. पारुकान्त देसाई ।

§49§ द्रष्टव्य : हंस : उपन्यास विशेषांक : 1999 ।

§50§ वही ।

§51§ द्रष्टव्य : भारतीय सामाजिक समस्याएँ : डा. एम.एल. गुप्ता : पृ. 110 ।

§52§ वही : पृ. 110 ।

§53§ अर्बन सोसियोलाजी : ई.बी. बर्गल : पृ. 3 ।

§54§ द्रष्टव्य : डिक्शनरी आफ सोशल साइन्सिस : गोल्ड एण्ड कोब : पृ. 117 ।

§55§ सी : अर्बन सोसियोलाजी : ई.बी. बर्गल : पृ. 11 ।

§56§ सी : अर्बनाइजेशन इन न्यू डेवेलाप्ड कन्ट्रीज़ : कोटेड बाय जी. ब्रिज : पृ. 3 ।

§57§ सी : अवर इण्डस्ट्रियल अर्बन सिविलाईजेशन : एन. एण्डरसन: पृ. 1 ।

§58§ सिक्स डीपेंड्स आफ अर्बनाइजेशन इन इण्डिया इन एम.एस.ए. राव §एडिटेड§ अर्बन सोसियोलाजी इन दि इण्डिया : पृ. 173 ।

§59§ भारतीय सामाजिक समस्याएँ : पृ. 112 ।

§60§ वही : पृ. 113 ।

§61§ वही : पृ. 115 ।

§62§ से §66§ : वही : पृ. क्रमशः 116, 116, 117, 117, 108 ।

§67§ द सोसियल प्रोब्लेम्स आफ एन इण्डस्ट्रियल सिविलाइजेशन : मेयो-एल्टन : पृ. 5-6 ।

xxxxx xxxxx xxxxx